Chapter-4

चतुर्थ अध्याय

# समाज, सामाजिक चेतना स्वरूप और दृष्टि

## चतुर्थ अध्याय

# समाज, सामाजिक चेतना स्वरूप और दृष्टि

### समाज

साहित्य और समाज अन्योन्याश्रित हैं, इसलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। साहित्य को समझने के लिए समाज का अध्ययन आवश्यक होता है। 'व्यक्ति–समूह का नाम समाज है।' प्राचीनकाल से भारतीय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज के रूप में विभाजित रहा है। व्यक्ति जन्म से नहीं अपितु कर्म से महान होता है। विश्व का प्रत्येक समाज वर्ण में विभाजित हैं। भारतीय समाज में प्राचीनकाल से ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का महत्व रहा है।[1]

### परिभाषा एवं स्वरूप

समाज मनुष्य का एक प्राकृतिक संगठन है। यह एक परिवर्तनशील व्यवस्था एवं गतिशील प्रक्रिया है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य अकेला नहीं रह सकता। वह आपस में मिलकर जीना पसंद करता है। इस उद्देश्य से मनुष्य ने जिस संस्था का निर्माण किया है, वह समाज कहलाता है। मनुष्य ने अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए समाज की संरचना की है।

समाजशास्त्रियों ने पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के स्थायी समूह को समाज कहा है, परिपोषण करने में समर्थ होता है।

पारसन्स के मतानुसार समाज उन मानव संबंधों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो क्रियाओं के करने से उत्पन्न हुए हैं और वे कार्य साधन व साध्य के रूप में किये गये हों, चाहे वे यथार्थ हों या चिह्नित।

समाज मानवीय संबंधों से बनता है और इन संबंधों के मूलभूत तत्व हैं प्रेम और

सहयोग की भावना। समरूपता, विषमरूपता, चैतन्य, सामान्य हित अथवा लक्ष्य अन्योन्याश्रय आदि समाज के तत्व हैं। 'सामान्य रूप से समाज से अभिप्राय सामुदायिक जीवन की ऐसी अनवरत एवं नियामक व्यवस्था से है जिसका निर्माण व्यक्ति पारस्परिक हित तथा सुरक्षा के निमित्त जाने-अनजाने कर लेते हैं।

मनुस्मृति में समाज शब्द से प्रदर्शनी का बोध होता है। जैसे -

सा प्रपापूशालावेश्मद्यान्न विक्रियाः।

चतुष्पथाश्चैत्यवक्षाः समाजाः प्रेक्षणनि च।'

श्रीमद्भागवत में समाज को सभा के साथ-साथ 'संबंध सूचक' अर्थ में भी प्रयोग किया है। समाजशास्त्र के विश्वकोश के अनुसार समाज, मनुष्य के अपने साथियों के साथ कई प्रकार के संबंधों को कहा है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर ने समाज को एक ऐसी व्यवस्था माना है जिसमें विविध प्रकार के चलन और विधि निर्देशों की, स्वामित्व और परस्पर सहयोग की, स्वतंत्रता और मानव आचरण के नियमंन की, संगठन और समुदायों की सतत परिवर्तनशील प्रक्रिया कार्यरत रहती है।

वेदों ने समाज को पुरुष के रूप में चित्रित किया है। मनुष्य को गति, मति, स्थिति और कृति के लिए चरण, मस्तिष्क, उदर और कर हैं। उसी प्रकार समाज-पुरुष के भी अंग है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र। ब्राह्मण, भुजाएँ क्षत्रिय, उदर वैश्य और चरण शूद्र हैं।' वेदों का यह विभाजन तुच्छता के आधार नहीं, योग्यता के आधार पर था, लेकिन आज भारतीय हिन्दू समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधारित है।[2]

## समाज का स्वरूप

'समाज' शब्द 'समाष्टि' की भाँति व्यापक है। यह विभिन्न अर्थों का संवाहक है, जिनको दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, जन-प्रचलित अर्थ एवं द्वितीय, वैज्ञानिक अर्थ।

सामान्यतः जनता में 'समाज' शब्द से अभिप्राय 'कुछ व्यक्तियों का समुह (Group of some persons) समझा जाता है यथा आर्यसमाज अर्थात् आर्यो का समूह, नागर-समाज अर्थात् नागरों का समूह, वानर समाज अर्थात वानरों का समूह आदि।

हिन्दी के अधिकांश शब्दकोषों में भी समाज का ऐसा ही अर्थ मिलता है। कुछ प्रमुख शब्दकोषों में प्रदत्त अर्थ निम्नस्थ हैं -

'प्रामाणिक हिन्दी कोष' में 'समाज' शब्द का अर्थ है - 'समाज' - पु. (सं.) समूह, गिरोह एक जगह रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का काम करने वाले लोगों का वर्ण, दल या समूह। समुदाय किस विशेष उद्देश्य से स्थापित की हुई सभा (सोसायटी,

उक्त सभी अर्थों में)।

'वृहद हिन्दी कोष' में 'समाज' – पु. (सं.) मिलना, एकत्र होना, समूह, संघ, दल, सभा, समिति, अधिक्य, समान कार्य करने वालों का समूह, विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संघटित संस्था, ग्रहों का योग, हाथी।[3]

'भाषा शब्दकोष' में 'समाज' – पु. (सं.) समूह, सभा, समिति, दल, वृन्द, समुदाय, संस्था, एक स्थान निवासी तथा समान आचार विचार वाले लोगों का समूह, किसी विशेष उद्देश्य या कार्य के लिए अनेक व्यक्तियों की बनायी या स्थापित की हुई सभा, आर्य समाज। 'कोऊ आज राम-समाज में बलशंभु को धनुकर्षि है।'

उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि 'समाज' शब्द का जन प्रचलित अर्थ है – समूह, समुदाय, सभा, सभ्य, संस्था आदि।

'समाज' शब्द का विस्तृत और वैज्ञानिक विश्लेषण समाजशास्त्रियों ने किया है। उनके अनुसार समाज, समूह, समुदाय एवं सभा, शब्दों में पर्याप्त अन्तर है। समाज शास्त्रीय परिकल्पना के परिप्रेक्ष्य में 'समाज' शब्द की परिभाषा विविध प्रकार से की गयी है। परन्तु आज भी कोई सर्वस्वीकृत एवं सर्वमान्य परिभाषा उपलब्ध नहीं है।[4]

तथापि समाज-शास्त्रियों की परिकल्पना को कालक्रम एवं प्रस्तुतिकरण की सुविधा की दृष्टि से तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है।

(क) प्रथम समूह – सोलहवीं शताब्दी के पूर्व समाजशास्त्रियों की समाज सम्बन्धी परिकल्पना, (ख) द्वितीय समूह – सोलहवीं से अठारहवीं तक के समाजशास्त्रियों की समाज सम्बन्धी परिकल्पना एवं (ग) तृतीय समूह – उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के विद्वानों की समाज सम्बन्धी परिकल्पना।

(क) सोलहवीं शताब्दी के समाजशास्त्रियों ने 'समाज' शब्द की दो प्रकार से व्याख्या की है।

1) व्यापकतम अर्थों में 'समाज' शब्द 'मनुष्यों के मध्य सामाजिक सम्बन्धों की सम्पूर्णता' को व्यक्त करता है।

2) 'समाज' दोनों लिंगों एवं सभी आयु के मानव प्राणियों के ऐसे स्वतः सतत प्रवाहमान समूह को समझा जा सकता है जो साथ-साथ रहने के लिए बाध्य हैं तथा जिसकी कम या अधिक अपनी विशिष्ट संस्कृति एवं संस्थाएँ हैं।

(ख) सोलहवीं शताब्दी तक राजनीतिक एवं सामाजिक सैद्धांतिक व्यवस्था में 'समाज' राजनीतिक समुदाय से पृथक नहीं समझा जाता था। सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी के धार्मिक एवं राजनीतिक विकास की अवधि के मध्य एक व्यावर्तन विकसित हुआ, जिसके

परिणामस्वरूप फ्रेंच एवं अंग्रेज विचारकों ने 'समाज' एवं 'राज्य' दोनों को सह–स्थित से अधिक नहीं समझा। राज्य समाज के विस्तृत अस्तित्व का केवल एक अंश था। इस काल के विचारकों की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि 'समाज' एवं 'राज्य' दो पृथक–पृथक स्वतन्त्र सत्ता वाले शब्द बन गये। 'समाज' के स्थान पर 'राज्य' एवं 'राज्य के स्थान पर 'समाज' शब्दों का दुरुपयोग होना बन्द हो गया। इससे पूर्व ऐसा होता था।

(ग) उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक समाजशास्त्र एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में स्थान नहीं ग्रहण कर पाया था। इस काल के विद्वानों के मतानुसार 'समाज' 'मानव की मूलभूत आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले समूह' के रूप में था। काम्टे तथा स्पेन्सर ने आग्रहपूर्वक कहा कि 'समाज' कुछ व्यक्तियों का संगठित नाम नहीं है परन्तु एक विशिष्ट 'सत्ता' है, जो उससे सम्बन्धित व्यक्तियों की व्यवस्था करती है।

इसी काल में कुछ विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया कि 'समाज' आवश्यक रूप से अलौकिक शक्ति का गोचर पदार्थ है जिसकी मानव मनोविज्ञान के रूप में व्याख्या की जा सकती है एवं साथ ही वह एक ऐसा अवयव है जिसका न्यायोचित अन्वेषण किया जाना चाहिए परन्तु ये सभी विद्वान समाज के वास्तविक स्वरूप पर सहमत नहीं हो पाते हैं।[5]

बीसवीं शताब्दी के विद्वानों की 'समाज' सम्बन्धी विचारधारा में पर्याप्त मतवैभिन्य पाया जाता है। इस काल में समाज के सर्वाधिक व्यापक अर्थ के रूप में 'विस्तृत मानवता' या 'मानव–जाति' अथवा 'मानव संगम का प्रामाणिक आधार' शब्दों का उल्लेख मिलता है। एम. गिन्सबर्ग, आर. एम. मैकाइवर तथा टी. पार्सन्स सभी ने लगभग यह मत व्यक्त किया है कि सामाजिक सम्बन्धों की पूर्ण बनावट ही समाज है। (Society is a network of social - relationship) इस काल के डब्ल्यू. समर एवं ए.एस. किलर जैसे समाजशास्त्रियों ने 'समाज' एवं 'एक समाज' शब्द के मध्य व्यावर्तन प्रस्तुत किया। इनकी दृष्टि में 'एक समाज' ऐसे मानव प्राणियों का समूह है जो अपनी जाति की निरंतरता के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए सहयोगपूर्ण प्रयासों में जीवित रहता है।[6]

गिन्सबर्ग जैसे अनेक विद्वानों ने 'समाज' एवं 'एक समाज' एवं अन्य समूहों मध्य व्यावर्तन विस्मृत करते हुए 'समाज' की 'एक समाज' जैसी ही परिभाषा प्रस्तुत की है। गिन्सबर्ग के शब्दों में 'समाज' सुनिश्चित सम्बन्धों एवं व्यवहार की पद्धतियों से सुसम्बद्ध व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो दूसरे व्यक्तियों से सहज ही अलग पहचाना जा सके।

इसी प्रकार जी. सिमल ने भी 'एक समाज' एवं 'समाज' शब्द में कोई भेद न मानते हुए लिखा है – 'एक समाज' ऐसे व्यक्तियों की एक ऐसी संस्था है जो अंतः क्रियाओं से सम्बद्ध है।

उपर्युक्त कुछ परिभाषाओं में 'समाज' की परिभाषा 'समाज' के एक 'समूह' के रूप में की गई है। इस भ्रामकता को दूर करने के लिए ए.डब्ल्यू ग्रीन एल. विल्सन एवं डब्ल्यू एल. कोल्फ ने प्रयास किया। ए.डब्ल्यू ग्रीन के शब्दों में 'समाज' सबसे बड़ा समूह है जिससे एक व्यक्ति सम्बन्ध रखता है।

एल. विल्सन एवं डब्ल्यू. एल. कोल्फ के शब्दों में 'समाज' एक ऐसा समूह है जिसके अंतर्गत सदस्य सामान्य जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं एवं दशाओं को पूर्ण करता है।

आर.ई.पार्क एवं ए.डब्ल्यू. वर्गस ने समाज की और भी अधिक व्यापक स्तर पर परिभाषा की है। उनके मतानुसार, 'समाज मानव के सामुदायिक व्यवहार के लिए आवश्यक घटनाओं, रूढ़ियों, परम्पराओं, मनोभावों, आदतों एवं संस्कृति की सामाजिक विरासत है।[7]

समाज केवल भीड़ का पर्याय नहीं होता। 'समाना अजन्ति' समान संचरणशील व्यक्ति समूह ही समाज है।[8]

**उद्‌भव और विकास :**

नेतृत्व शास्त्रियों के मतानुसार मनुष्यों को इस पृथ्वी पर आये पाँच लाख से दस लाख वर्ष हो चुके हैं। आदि काल में मनुष्य जंगलों में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करते थे। वे मधु, फल आदि खाते थे और शिकार करते थे। यौन संबंध नियमित या नियंत्रित नहीं था। धीरे-धीरे सभ्यता का विकास हुआ। यौन सम्बन्ध नियंत्रित हो गया। विवाह-संस्था और परिवार का जन्म हुआ। मनुष्य कृषि करने लगा और कृषि में अभिवृद्धि हुई तो लोग कृषि की रक्षा के लिए झुण्डों में एक स्थान पर स्थित रहने लगे। लोगों के बीच परस्पर सहयोग की भावना बढ़ी। धीरे-धीरे परिवारों के संयुक्त रूप ने समाज का रूपधारण कर लिया।

वर्तमान समाज का विकास अनेक चरणों से होकर हुआ है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार समाज का विकास तभी होता है जब उसके लिए आवश्यक कारण विद्यमान हों। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार विकास की प्रक्रिया मूलतः उन अंतर्विरोधों पर आधारित है जो वस्तुजगत के प्रत्येक व्यापार में आंतरिक रूप से विद्यमान रहते हैं।

**सामाजिक संगठन :**

समाज-शास्त्र के अनुसार समाज मनुष्यों का एक समूह है। कई समूहों का एक वृहद-समुदाय है। यह मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों का पंच है। अनेक मनुष्यों की जीवनावधि से सम्बन्धित होने के कारण उनके आपसी जटिल सम्बन्धों के इस पुंज को

समाज की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें प्रत्येक मानव अपने आत्म-विस्तार, आत्म-संरक्षण और आत्मोपलब्धि को प्रयास करता हुआ भी एक व्यवस्था में रहता है। यह सामाजिक लक्षण मानवीय जीवन के समान ही संगठित, गतिशील और परिवर्तनशील है।[9]

संगठन एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा एक समाज पूर्व निश्चित उद्देश्यों के अनुसार चलता है और उनकों पूर्ण करने की चेष्टा करता है। समाज शास्त्रियों के मतानुसार सामाजिक संगठन वह दशा है जिसमें समाज का प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक रूढ़ियों, परम्पराओं, कायदे और कानूनों का पालन करता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी 'स्थिति' होती है। वह समाज में रहकर जब-जब स्थिति के अनुरूप ही कार्य करताहै तब तक समाज संगठित होता है।

– समाज के रीति-रिवाज, परम्पराएँ और अगणित छोटी-मोटी समितियाँ सामाजिक संगठन को बनाये रखने में सहायक होती हैं। परिवार, जाति, भाषा, पंचायत नगर, गाँव वर्ग आदि सभी सामाजिक संगठन के अंग हैं।[10]

## परिवार

परिवार एक अत्यंत महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। समाज के जीवन का केन्द्रबिन्दु परिवार है। यह व्यक्ति और समाज के बीच सेतु के समान रहकर दोनों को मिलाता है। यह मनुष्य की शारीरिक-सामजिक सुरक्षा और सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक आवश्यकताओं का पूरक है।

समाजशास्त्रियों ने परिवार को वह प्रवेश द्वारा माना है जिससे होकर व्यक्ति समाज में पदार्पण करता है। सामान्य रूप से परिवार ऐसे लोगों का समूह है जो जन्म से या विवाह से बन्धित है। समाज के सभी पहलू अन्तः सम्बन्धित हैं और बुनियादी तौर पर परिवार समाज का रूढ़ि-जन्य चरित्र और संगठन का संधारण करता है।

व्यक्ति को अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि परिवार से ही मिलती है। प्रेम, त्याग, दया, सहानुभूति, ममता आदि श्रेष्ठ गुण व्यक्ति को घर से मिलते हैं।

भारतीय पारिवारिक व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली थी। संयुक्त परिवार में चार या पाँच पीढ़ियों के लोग एक साथ रहते हैं और परिवार का बड़ा-बूढ़ा मालिक होता है जो घर का संचालन करता है। घर के अन्य समस्त सदस्य उसी की अधीनता और संरक्षण में कार्य करते हैं।

## व्यक्ति और समाज

व्यक्ति समाज की कोई विच्छिन्न इकाई अथवा पण्यवस्तु नहीं। वह समाज की गतिशील शक्ति का एक हिस्सेदार है, एक अपरिहार्य हिस्सेदार। वह घटनाओं तथ्यों और

मूल्यों का कार्य नहीं कारण, उनका कर्ता और भोक्ता है। वह देशकाल की परिधि का केन्द्र–बिन्दु है। समाज एक स्वयंभू शक्ति है। वह स्वयं की इच्छा शक्ति से परिचालित है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में चिरन्तनता और रेखकीय ऋजुता नहीं, वक्रता और जटिलता है। समाज व्यक्ति के सम्बन्धों का एक जटिल जालतंत्र है।

व्यक्ति और समाज के बीच अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। किसी भी परिस्थिति में मनुषय समाज से पृथक नहीं हो सकता। व्यक्ति का ही आत्म–विस्तार है समाज। व्यक्ति के ह्रास से समाज का ह्रास जुड़ा हुआ है और व्यक्ति की समृद्धि से समाज की समृद्धि। घर, स्कूल, जाति, सम्प्रदाय, धर्म, कला और संस्कृति व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करती है और उसकी आदतों को प्रभावित करती है। समाज का विकास व्यक्ति द्वारा होता है।

समाजशास्त्रियों ने व्यक्ति को समाज का केन्द्र बिन्दु माना है। उनके विचारानुसार व्यक्ति के अभाव में समाज का कोई अस्तित्व नहीं होता। समकालीन सन्दर्भ में व्यक्ति की स्वतंत्रता सामाजिक आवश्यकता की शक्ति में घुल मिलकर ही सार्थक यथार्थ और चरितार्थ होती है।

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। एक ओर व्यक्ति समाज का निर्माता है। दूसरी ओर वह समाज का अभिन्न अंग भी है।[11]

व्यक्ति समाज की सापेक्षता में ही अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकता है। समाज से बचकर अलग रहने में व्यक्ति के स्वरूप और उसकी प्रकृति का कोई महत्व नहीं रहता। अत एव व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी निजता के साथ ही साथ सामाजिकता का ज्ञान भी अनिवार्य है।[12]

## सामाजिक स्तरीकरण की शुरुआत एवं सिद्धान्त

मानव ने अपने विभिन्न जैविक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति–हेतु सामाजिक व्यवस्था का आविष्कार किया है और यह मानव–समाज नित्य–परिवर्तनशील, संश्लिष्ट, दुरुह और जटिल होता है। अपने उद्‌विकास के समय से लेकर यह मानव–समाज अनेकों छोटे बड़े समूहों, वर्गों, जातियों, दलों आदि में विभक्त भी दिखाई पड़ता है। ''यदि हम विश्व की संस्कृति पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि कोई भी समाज वर्गहीन या स्तरहीन नहीं है।'' कायिक शक्ति, बौद्धिकक्षमता, लिंग, अभिरुचियाँ आदि में मानव प्रतिजन भिन्न होता है। ऐसे व्यक्ति–मानव, समान अभिरुचियों वाले सहजीवियों से सहकारिता का भाव दिखाना और दूसरों से अलगाव प्रदर्शित करना आदि सहज ही है। आम लक्ष्य की पूर्ति के लिए कई मनुष्य एक साथ मिलकर प्रयत्न करना साधारण दृश्य है। व्यक्ति विशेष मानव की शक्ति सीमित होती हैं यह प्रतिजन–भिन्नता तथा सीमित

सामर्थ्य, समाज के सदस्यों में सहज स्तरीकरण के मुख्य कारण होते हैं। सामर्थ्य और क्षमता के आधार पर समान के सदस्यों को व्यत्यस्त पदों पर प्रतिष्ठित करके सामाजिक व्यवस्था का संचालन सुगम बनाने की रीति हर समय विद्यमान है। विभिन्न पदों पर रहनेवाले व्यक्तियों को अपने धर्मानुष्ठान में प्रेरणा देने के लिए पदों के अनुरूप उन्हें प्रतिष्ठा और पुरस्कार देने का दृश्य भी सार्वत्रिक है। प्राप्त पदों की जिम्मेवारियों को वांछित रीति से न निभानेवालों को सजा देने की और पद-भ्रष्ट करने की प्रथा भी सब जगह चलती है। इस तरह सामाजिक व्यवस्था की सुचारू प्रगति को लक्ष्य करके आविष्कृत पद-भिन्नता, पुरस्कार तथा प्रतिष्ठा आदि में उच्च-नीचत्व जैसे कार्यों से समाज हमेशा स्तरीकृत दिखाई पड़ता है। मानव को अपने जीवन के दौरान ऐसे अनेकों समूहों से संपर्क स्थापित कर लेना पड़ता है।

जैसे मानव समाज नित्य परिवर्तनशील होता है, उसमें मौजूद असंख्य स्तरीकरण भी नित्य परिवर्तनशील होते हैं। ऐसे कुछ सामाजिक स्तरीकरण भी हैं जो चिरंतन और गतिहीन दिखाई पड़ेंगे। उदाहरण है भारतीय समाज का जातिव्यवस्था पर आधारित स्तरीकरण। किंतु उनमें भी समय और सहचार्यों के प्रभाव से परिवर्तन होता ही रहता है। स्थान, समय, लक्ष्य ऐसी अनेक भौतिक परिस्थितियाँ हैं जिनके असर से विभिन्न प्रकार के सामाजिक स्तरीकरणों का आविर्भाव होता है। सदस्यों की संख्या, आपसी रिस्ता जैसे कार्यो में भी हर समूह से भिन्न होता है। विभिन्न मनोवैज्ञानिक कारणों से भी एक व्यक्ति विभिन्न सामाजिक समूहों से संबंध जुड़ाये रहता है या कभी दूर रहता है। जो भी हो समस्त मानव-जीवन इन अनेकों सामाजिक समूहों में रहकर बिताया जाता है। विभिन्न समाजिक समूहों में रहकर निभाई जाती सामाजिक अंतर्क्रियाओं से ही मानव के वैयक्तिक का संबंध तथा संपर्क रहता है, उन्हीं का स्पष्ट प्रभाव व्यक्ति के जीवन-दर्शन और रहन-सहन सबकुछ पर पड़ेगा ही। इसीलिए फ्रांसीस ई. मेरिल ने मानव को एक ''सामाजिक प्राणी'' (साशियल बीयिंग) कहने से उसे एक ''सामूहिक प्राणी'' ग्रुप आनिमल) कहना अधिक समीचीन बताया है।[13]

## सामाजिक विकास और वर्ग संघर्ष की भूमिका

वर्ग संघर्ष ऐतिहासिक भौतिकवाद का आधारभूत सिद्धान्त है। जिस प्रकार पदार्थ अथवा वस्तु में द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया जारी रहती है, ठीक उसी प्रकार मानव इतिहास के विकास में भी वर्ग-संघर्ष की एक नियत तथा निश्चित भूमिका रहती है। समाज की सम्पूर्ण घटनाओ का केन्द्र बिन्दु है मनुष्य। उत्पादन के कार्यों में संलग्न व्यक्ति दासत्व और स्वामित्व के वर्गों का अस्तित्व समाज में प्रकट हुआ। वड़े मेयर को लिखे पत्र में मार्क्स ने वर्ग और वर्ग-संघर्ष का संकेत किया। ''वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास

के खा ऐतिहासिक दौरों के साथ बंधा हुआ है।'' मार्क्स ने पहली बार सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया के बीच द्वन्द्वात्मक ढंग से वर्ग–संघर्ष की भूमिका को स्पष्ट किया तथा यह भी सिद्ध किया कि वर्गों का अस्तित्व चिरन्तर नहीं है बल्कि इनका मिट जाना भी अनिवार्य है। वर्ग–संघर्ष प्रत्येक युग की आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही उत्पन्न हुए हैं। मार्क्सवाद वर्ग–संघर्ष के माध्यम से ही इतिहास की समस्त समाज व्यवस्थाओं का विश्लेषण करता है और उन्हें बदलने की दिशा भी प्रदान करता है।

**आदिम साम्यवादी व्यवस्था :** मानव इतिहास की प्रारम्भिक अवस्था को आदिम साम्यवादी व्यवस्था कहा जाता है। श्रम–प्रक्रिया के दौरान मनुष्य ने अपनी जीविका के लिए उत्पादन उपकरणों का आविष्कार किया। उनके क्षमताहीन होने पर उसने उनको बदला और साथ–साथ स्वयं को भी। विकास के पहले चरण में उसने प्रकृति और जंगली जानवरों से अपने लिए अस्तित्व संघर्ष किया। जब उसने संघर्ष में अपने को अकेले को अकेले और असमर्थ पाया तो वह समूह से जुड़ा। उसने पत्थर के भोंथरे और मोटे हथियारों को बदलकर तेज नुकीले (बर्छी–भाले आदि) उपकरण बनाये। इस युग अंग में उसने पशुपालन और फलों का संचय करना भी शुरू कर दिया। इस युग में उत्पादन प्रक्रिया सामूहिक रही। इस समाज में अभी न तो वर्ग–विभाजन हुआ और न ही शोषण की प्रक्रिया शुरू हुई। सामूहिक उत्पादन ढंग के कारण सामूहिक स्वामित्व और सामहिक उपभोग था परन्तु अन्तिम चरण में प्रकृति पर मनुष्य की निरन्तर विजय, नये–नये उपकरणों का आविष्कार और आवश्यकता से अधिक उत्पादक किया जाने लगा तब श्रम प्रक्रिया विघटित हुई। समाज में श्रम विभाजन हुआ जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक स्वामित्व की भावना ने जन्म लिया और पहली बार मानव इतिहास में वर्गवाद और वर्ग–शोषण के चिह्न दृष्टिगोचर हुए।

**दास व्यवस्था :** इतिहास की यह पहली समाज व्यवस्था है, जिसमें उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत आधिपत्य स्थापित हुआ। दास व्यवस्था का इतिहास दासों और दास स्वामियों के बीच वर्ग–संघर्ष का इतिहास है। इस व्यवस्था में मानव द्वारा मानव शोषण किया जाने लगा। इस युग में उत्पादन विषयक मानवीय क्षमता भी परिष्कृत हुई। दास वर्ग की श्रम शक्ति का उपयोग उत्पादन में यंत्र के रूप में तथा राजकीय व्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए किया जाने लगा। दूसरी ओर स्वामी वर्ग विज्ञान और कला की ओर उन्मुख हुए। पहली बार समाज में मनुष्य के बौद्धिक विधान – (कानून, कला, संस्कृति आदि) भी सुनिश्चित हुए। धीरे–धीरे दास–व्यवस्था में जड़ता की स्थिति उत्पन्न हुई। उत्पादन शक्तियों के विकास में गतिरोध उत्पन्न हुआ। परिणामस्वरूप दास और स्वामी वर्ग के बीच वर्ग–संघर्ष हुआ। दासों ने सामूहिक रूप

से संघर्ष कर दास–व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया। दास व्यवस्था का स्थान सामन्ती व्यवस्था ने लिया।

सामन्ती व्यवस्था : सामन्ती व्यवस्था मानव इतिहास के विकास का तीसराचरण है। इस व्यवस्था में भी वर्ग और वर्ग शोषण एक नए रूप में उभर कर आया। इस युग में उत्पादन के साधन भूमि से सम्बद्ध थे जिन पर कुछ ही व्यक्तियों का अधिकार था। भूमि पर सामन्त वर्ग का पूर्ण अधिकार था और सामन्तों की भूमि पर अर्द्ध गुलाम तथा कृषक काम करते थे। इस प्रकार पूरा समाज सामन्त और किसान वर्ग में विभाजित हुआ। अभी भी अर्द्ध–गुलाम कृषक सामन्तों के शिकंजे में थे। दास व्यवस्था की अपेक्षा इस व्यवस्था में इतनी प्रगति अवश्य हुई कि अब सामन्त किसान से बेगार तो ले सकते थे परन्तु उन्हें जान से नहीं मार सकते थे। किसान को इतनी स्वतन्त्रता भी मिली कि वह जमीन का एक भाग, घोड़ा, गाय तथा अन्य जानवर निजी सम्पत्ति के रूप में रख सकता था। परन्तु परोक्ष रूप में इन सब पर सामन्तों का ही अधिकार था। आगे चलकर सामन्ती समाज में सामन्त और किसान के अतिरिक्त एक तीसरे नए वर्ग (शिल्पी वर्ग) का भी उदय हुआ। यह वर्ग शहरों में दस्तकारी का काम करता था। अपने उपकरणों पर इनका स्वतन्त्र अधिकार था। शिल्पी अपने स्वनिर्मित माल को स्वतन्त्र रूप से पूरे देश में तथा बाहर भी क्रय–विक्रय करते थे। बावजूद इतनी स्वतन्त्रता के भी शिल्पी वर्ग को अपने मुनाफे में से सामन्तों को एक बड़ा भाग करके रूप में देना पड़ता था। अतः सामन्तों के अत्याचार से किसान और शिल्पी दोनों ही वर्ग पीड़ित थे। संसार में एक समय ऐसा भी आया जब अनेक देशों में सामन्तों के विरोध में किसान विद्रोह हुए। शिल्पी वर्ग ने भी अपने वर्गीय हितों में किसान विद्रोह का पूर्ण रूपेण साथ दिया। मार्क्स–एंगेल्स ने सामन्ती व्यवस्था के विनाश के कारणों को स्पष्ट करते हुए बताया कि ''उत्पादन और विनिमय के साधनों के इस विकास की एक खास अवस्था में, उन परिस्थितियों का जिसमें सामन्ती समाज विनिमय करता था – यानी खेती–बाड़ी और उद्योग–धन्धों के सामन्ती संगठन का, एक शब्द में, सम्पत्ति के सामन्ती सम्बन्धों का, नवोन्नत उत्पादक शक्तियों के साथ–साथ चलना असम्भव हो गया; और उन्हें तोड़ फैंका गया। उनका स्थान स्वच्छन्द प्रतियोगिताओं ने ले लिया फिर उसीके अनुकूल सामाजिक और राजनीतिक विधान बना और पूँजीपति वर्ग का आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव कायम हुआ।''

**पूंजीवादी व्यवस्था** : इस व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का अधिकार हुआ वहीं दूसरी ओर साधनहीन श्रमिकों को अपनी श्रम शक्ति विक्रय करने के लिए विवश होना पड़ा। इसीलिए मार्क्स ने पूंजीवाद के ऐतिहासिक विकास पर अपने विचार व्यक्त

करते हुए कहा कि पूंजीवाद ने वर्ग और वर्ग उत्पीड़न को बिलकुल खत्म न करके उसने वर्गों के नए रूप और शोषण के नए-नए तरीके निकाल लिए हैं। पूंजीवादी समाज में स्पष्टतः दो प्रमुख वर्ग हैं। एक पूंजीपति वर्ग जिसका उत्पादन के साधनों पर वर्चस्व है और दूसरा मजदूर वर्ग जिसके पास श्रम-शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ''पूंजीवाद उस समाज व्यवस्था का नाम है जिसके अन्तगत भूमि, कारखाने, औजार इत्यादि थोड़े से भू-स्वामियों और पूंजीपतियों के अधिकार में होते हैं। और जन-साधारण के पास कोई सम्पत्ति नहीं होती या बहुत थोड़ी सम्पत्ति होती है। अतः वे मजदूरों के रूप में भाड़े पर काम करने के लिए विवश होते हैं।

पूंजीपति अपनी पूंजी के बल पर श्रमिकों की श्रम-शक्ति को खरीद कर उनका शोषण करता है। पूंजीवादी व्यवस्था में सभी पदार्थ विनिमय के लिए तैयार किए जाते हैं। पूंजीवादी प्रणाली की एक विशेषता यह भी है कि पूंजी द्वारा मेहनत करनेवाले के अतिरिक्त श्रम कराकर या अतिरिक्त मूल्य के रूप में मुनाफा कमाना। मार्क्स ने पूंजीवाद का गहन अध्ययन कर अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त निरूपित कर पूंजीवादी शोषण प्रक्रिया को स्पष्ट किया उनके अनुसार - ''आर्थिक समाज का स्वरूप चाहे दास युग के श्रम पर आधारित हो चाहे वेतन भोगी श्रमिक के श्रम पर। दोनों का अनिवार्य अन्तर इस बात पर निर्भर है कि किस प्रकार वास्तविक उत्पादकों अर्थात श्रमिकों के अतिरिक्त श्रम का शोषण किया जाता है। अतः वर्तमान पूंजीवाद समाज भी अपने पूर्ववर्ती समाजों की भांति शोषण पर आधारित समाज व्यवस्था है।

समाज के ऐतिहासिक विकास क्रम में पूंजीवाद ने अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन और विकास भी किया है। उसने समस्त सामन्तीय मान्यताओं, धार्मिक भावुकता आदि का अन्त कर नए मानवीय मूल्यों को भी जन्म दिया है। वहीं दूसरी ओर मुनाफाखोरी प्रवृत्ति के कारण उसने साधनहीन श्रमिकों को भूखे मरने और अमानवीय जीवन जीने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया है। इसलिए पूंजीवादी समाज व्यवस्था अब तक की शोषण पद्धतियों से कहीं अधिक भयंकर शोषण व्यवस्था है। पूंजीवादी ने जिस नए मध्यवर्ग को स्वयं जन्म दिया है वह भी शोषण के चक्र से नहीं बच सका है। वह भी असहनीय आर्थिक अभावों और संकटों के कारण दिनों दिन मजदूर वर्ग में सम्मिलित होता जा रहा है। इस प्रकार ''आज पूरा समाज दिनों दिन दो विशाल प्रतिस्पर्धी शिविरों में एक दूसरे के खिलाफ खड़े दो विशाल वर्गो में - पूंजीपतियों और मजदूरों में बँटता जा रहा है।'' पूंजीवादी आर्थिक वैषम्य और संकट से उबरने के लिए श्रमिक वर्ग (सर्वहारा वर्ग) अपने वर्गीय हितों की सुरक्षा और विकास के लिए वर्ग-संघर्ष को विवश होता है और अन्ततः इस वर्ग-संघर्ष में उसकी विजय होती है। विश्व के कई देशों में सर्वहारा क्रान्ति इसका

प्रमाण है।[14]

## सामाजिक परिवर्तन और जीवन मूल्य

समाज के विभिन्न कारणों में यथा उद्योगीकरण, मशीनीकरण, विदेशी संस्कृति का संपर्क आदि से परिवर्तन आता है। समाज में होनेवाला यह परिवर्तन रोका नहीं जा सकता और इसके परिणामस्वरूप हमें अपने जीवन–मूल्यों में भी परिवर्तन करना पड़ता है। 'सम्भवतः इन पर विचार करते हुए ही वेनवर्ग और शेवेत ने कहा है कि, 'सामाजिक परिवर्तन आधुनिक संसार के हृदय में निवास करता है। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप सामाजिक मूल्यों में भी उतनी ही तेजी से विघटन आता है। बहरहाल जो भी हो. इन परिवर्तनों को रोकना हमारे लिए सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि समाज के विकास में भिन्नता और समन्वय प्रक्रियाओं का महत्वपूर्ण संतुलन हुआ करता है। क्योंकि पहली प्रक्रिया सामाजिक विकास की प्रक्रिया है जो विभेदी करण का कारण होती है और दूसरी विभिन्नता में समन्वय स्थापित करती है ताकि संघर्ष की स्थिति पैदा न हो। इसीलिए समाज को विभिन्न और समन्वय का गत्यात्मक संतुलन कहते हैं।

आज हम देखते हैं कि हमारे भारतीय समाज के हर क्षेत्र में परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर गतिशील है और उस परिवर्तन के परिणामस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन में पर्याप्त परिवर्तन का स्वरूप लक्षित हो रहा है। 'आज साहित्य के सन्दर्भ में स्वीकृत जीवन–मूल्यों की समसामायिकता पर्याप्त चर्चा का विषय बनी हुई है। अस्तित्ववादी दर्शन के अभाव के फलस्वरूप आज प्रत्येक क्षेत्र में मूल्यवरण की स्वतन्त्रता पर बल दिया जा रहा है। वस्तुतः ज्यों–ज्यों व्यक्ति की मौलिक चिन्तन–शक्ति का विकास होता जाता है, वह परम्परा से चले आ रहे जड़ मूल्यों को छोड़ता जाता है और उनके स्थान पर नवीन मूल्यों का निर्माण करता है। आधुनिक युग में विज्ञान के विकास के फलस्वरूप मनुष्य में तार्किक बुद्धि का उदय हुआ और उसने परम्परागत जीवन–मूल्यों का अन्धानुकरण करने के स्थान पर उन्हें तर्क की कसौटी पर कसना आरम्भ किया। इस तार्किक दृष्टिकोण ने अनेक परम्परागत–मूल्यों के सम्मुख एक प्रश्न–चिह्न लगा दिया।'[15]

## मानव जीवन मूल्य :

मनुष्य विवेकशील प्राणी है और इसी विवेक से वह जीवन मूल्यों से जुड़ता है। अपने जीवन को बेहतर, खूबसूरत बनाने तथा ढंग से जीने के लिए हमने जो मान्यताएँ स्थापित की हैं, उसे हम 'मूल्य' कहते हैं। मूल्य विभिन्न प्रकार के होते हैं– सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक। इसमें सबसे महत्वपूर्ण मूल्य मानव मूल्य है। ''जब हमारे जीवन में नैतिकका का प्रवेश हो जाता है तब वही मूल्य मानवीय मूल्य की संज्ञा

प्राप्त करता है।, जो जीवन पद्धति के लिए आदर्श है। ज्ञातव्य है कि जब तक विवेक साथ देता है, तब तक ही मानवीय मूल्य अपनी अर्थवत्ता रख सकता है। विवेक नष्ट हो जाने पर नैतिकता ढूँढ़ते हैं और अनैतिकता उपजती है, जो किसी भी कीमत पर आदर्श मूल्य नहीं कही जा सकती। नैतिकता ही मानव मूल्यों की आधारशिला है। इस प्रकार किसी भी समाज के स्थायीत्व के लिए मूल्य आवश्यक है।

डॉ. देवराज ने कहा है कि ''मूल्य किसे कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर इस दूसरे प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित है कि मनुष्य किन चीजों को मूल्यवान समझते हैं। अन्ततः मूल्यवान वस्तु वह है जिसकी मनुष्य कामना करता है। अर्बन के अनुसार किसी भी इच्छा या आवश्यकता के पूरक ही मूल्य हैं। उन्होंने विस्तार देते हुए लिखा है – ''वही वस्तु अन्तिम रूप से स्वलक्ष्य दृष्टि से मूल्यवान है जो व्यक्तियों की आत्मविकास अथवा आत्मानुभूति की ओर ले जाती है। इस प्रकार वही मूल्य चरम व महत्वपूर्ण होते हैं जो व्यक्ति को उसके पूर्ण विकास की ओर गतिशील करें।

रोहित मेहता ने मूल्य को इस प्रकार परिभाषित किया है कि ''मूल्य न तो मशीन द्वारा उत्पादित वस्तु है और न ही वह किसी सरकार द्वारा निर्मित कानून है। मूल्य तो जीवन के प्रति एक गुण है। एक अन्तःदृष्टि है, एक अवधारणा है, एक दृष्टिकोण है। कुमार विमल के अनुसार वैसे समग्रतः मानवि के सन्दर्भ में 'मूल्य' का अर्थ है जीवन दृष्टि या स्थापित वैचारिक इकाई जिसे हम नार्मस भी कह सकते हैं।[16]

**सामाजिक नैतिकता** : सामाजिक नैतिकता का लक्ष्य समाज में व्यवस्था बनाए रखता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक नैतिकता कुछ ऐसे नियमों बंधनों और कर्तव्यों की योजना करती है। जिससे समाज में एकता बनी रहे।

भारतीय समाज में व्यक्ति साधरण धर्म और कर्तव्यों की व्यवस्था की गई है। जिन्हें मानना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य समझा जाता है। इन साधारण धर्मों में धैर्य, क्षमा, चौर्या, भाव, शौच, इन्द्रिनिग्रह, सत्य, आक्रोश, आदि दस धर्म सम्मिलित हैं। इतना ही नहीं इन साधारण धर्मों के अतिरिक्त अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य ये चार यमः और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर – परिनिधान ये पाँच नियम भी हैं। इस प्रकार वर्णाश्रय धर्म, साधारण धर्म, यम और नियम – सब मिलाकर भारतीय समाज की नैतिकता का रूप स्थिर करते हैं। सामाजिक नैतिकता इस व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपना-अपना धर्मपालन करने का आदेश देती है।

**वैयक्तिक नैतिकता** : सामाजिक नैतिकता समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर आरोपित है। अतः वह बह्य नैतिकता है। यदि किसी कारणवश समाज छिन्न भिन्न हो जाता है तो समाज में उच्छृंखलता तथा अनैतिकता आ जाना अनिवार्य है। समाज व्यवस्था को सुदृढ़ एवं

सुस्थिर बनाने के लिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति में आन्तरिक नैतिकता होनी चाहिए। ''वैयक्तिक नैतिकता के अन्तर्गत व्यक्ति में भले-बुरे अथवा उचित-अनुचित का ज्ञान उसके मत और विश्वास, उसके नैतिक आदेश और मूल्य आ जाते हैं। इस वैयक्तिक नैतिकता की सहायता से वह अपने आचरण को समयानुकूल बनाने में समर्थ हो जाता है। वैयक्तिक नैतिकता अपने व्यापक अर्थ में व्यक्ति का अपना जीवन-दर्शन है, जिसके सहारे वह जीवन यापन करता है। वैयक्तिक नैतिकता के स्वरूप निर्धारण पर संस्कृतिक परम्परा और रहन-सहन का बहुत प्रभाव पड़ता है।''

इसमें सन्देह नहीं की व्यक्ति पर सामाजिक नैतिकता का बहुत प्रभाव पड़ता है। परन्तु जब व्यक्ति सामाजिक नीति का यथा तथ्य पालन न करके स्वयं अपना निर्णायक बन जाता है। तब उसमें स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की झलक दिखाई देने लगती है। वह स्वयं अपने आचरण एवं भले-बुरे का निर्णय करके अपने दृष्टिकोण का निर्माण करता है। वैसे भी उसे समाज के विविध नियमों एवं कर्तव्यों में से अपने लिए आचार-पद्धति चुननी पड़ती है। वह परिस्थितियों और वातावरण के अनुसार उनमें यथेष्ट परिवर्तन भी कर लेता है। वह एक ऐसी आचार पद्धति को जन्म देता है जिस पर उसके जीवन दर्शन की प्रतिच्छाया हो।

**परिवार और नैतिकता** : जीवन का आधार पारस्परिक सहयोग एवं सेवा विनिमय है। मनुष्य अपने को सामाजिक एकता के सूत्र में आबद्ध करने का प्रयत्न करता है। सामाजिक संगठन में ही आचार-विचार, आदर्श आदि की एकता, संगठन-शक्ति एवं सामूहिक विकास सम्भव है।

मानव जीवन में पारस्परिक सम्पर्क और सहयोग नितान्त आवश्यक है। मनुष्य का व्यावहारिक ज्ञान ही इसे सफल बनाता है।

पारिवारिक जीवन सामाजिक जी बन का आधार-स्तम्भ है। परिवार मनुष्य को सुख, सन्तोष और सुविधा प्रदान करता है। उसे सामाजिक स्तर प्रदान करने में भी परिवार का प्रमुख योगदान रहता है। मनुष्य सहिष्णुता तथा पारस्परिकता के सम्बन्ध परिवार से ही सीखता है। चरित्र-निर्माण में परिवार का योगदान स्वतः सिद्ध है। शिशु के व्यक्तित्व का विकास परिवार में होता है। परम्पराओं की शिक्षा भी उसे परिवार से ही प्राप्त होती है।

पारिवारिक जीवन का आधार ही प्रेम, स्नेह, वात्सल्य आदि मनोभाव हैं। सहजता, समरता, त्यागमयता एवं निःस्वार्थता आदि गुण पारिवारिक जीवन के आधार-स्तम्भ हैं।[17]

**समाजशास्त्रीय अध्ययन के आयाम**

साहित्य अपनी संवेदनात्मक प्रवृत्ति के कारण अपने आस-पास के वातावरण से

रागात्मक सम्बन्ध स्थापति करता है। अतः साहित्य के अन्तर्गत समाज का चित्रण किया जाता है। यहाँ समाज का तात्पर्य व्यक्तियों के समूह से नहीं है। समाजशास्त्र की दृष्टि से समाज का अर्थ व्यक्तियों का समूह नहीं है, बल्कि उनके अन्तसम्बन्धों की संज्ञा समाज हैं।

मेकाइवर व पेज ने सामाजिक सम्बन्धों को समाज कहा है। साथ ही समाज को रीति–रिवाजों और कार्य प्रणालियों की, अधिकार और पारस्परिक सहायता की अनेक समूहों और उनके विभाजन की, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों एवं स्वाधीनताओं की व्यवस्था माना है।

सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, पारिवारिक, मनोरंजनात्मक, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार के सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों के ही भाग हैं। सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु कई प्रकार की हो सकती है, जैसे–सहयोग, संघर्ष, यौन–आकर्षण, विभिन्नता, कर्तव्यपरायणता एवं आर्थिक विनिमय आदि सामाजिक बन्धन व्यक्ति के अनुकूल या प्रतिकूल हो सकते हैं।

साहित्य के अन्तर्गत समाज का चित्रण तो होता ही है साथ–ही–साथ वह अनेक कारणों से बदलते हुए समाज की पहचान भी कराता है। राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियों तथा वैज्ञानिक खोजों के कारण हमारे सम्बन्धों, हमारी मूल्य चेतना, अनुभव, जीवन स्थितियों में जो परिवर्तन आता है उसकी संश्लिष्ट एवं गहरे रूप में जानकारी हमें साहित्य से प्राप्त होती है।[18]

मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है समाजशास्त्र। सामुदायिक जीवन में मनुष्य के विचार–व्यवहार अनन्त काल से विकसित समाज में संचित विचार–व्यवहार का प्रतिफलन करते हैं। समाजशास्त्र यह मानकर चलता है कि परस्पर आदान–प्रदान तथा सम्पर्क सम्बन्ध आदि के द्वारा ही मनुष्यों में मानवीय गुणों का विकास होता है। अतः मनुष्य के समस्त क्रिया–कलापों का अध्ययन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। समाजशास्त्र मानवमूल्यों को सामाजिक मूल्यों के रूप में परिभाषित करता है।

अन्य शास्त्र शाखायें जीवन के किसी एक पहलू से सम्बन्धित रहते हैं। इसके विपरीत समाजशास्त्रीय अध्ययन के अंतर्गत राजनीति, शिक्षा, धर्म, संस्कृति आदि सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का अध्ययन आता है।

**समाज और राजनीति :** मनुष्य के सामाजिक जीवन की सुरक्षा के लिए शासन–तंत्र की व्यवस्था की जाती है। राजनीति संविधान के प्रयोग पक्ष का नाम है। जिन नियमों, पद्धतियों और विधानों के अनुसार राज्य अपने देश का शासन चलाता है, वह राजनीति कहलाती है। राजनीति समाज व्यवस्था को पूर्णता प्रदान करती है। समाज को सुचारू

रूप से चलाने के लिए नियमों की आवश्यकता है। राजनीति इस आवश्यकता की पूर्ति करती है। अतः समाज और राजनीति का परस्पर सम्बन्ध अनुपेक्षणीय है।

**समाज और अर्थ :** आर्थिक प्रणाली का सामाजिक संगठन से गहरा सम्बन्ध है। भारतीय दर्शन के अनुसार अर्थ पुरुषार्थ चतुष्टय में एक है। आर्थिक ढाँचे पर ही युग का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ढाँचा आश्रित रहता है, आर्थिक परिवर्तनों के साथ समाज में भी परिर्वतन होता है।

– बीसवीं सदी के समाज में अर्थ का महत्व बढ़ गया है। आज समाज का आधार अर्थ माना जाता है। अर्थहीन व्यक्ति समाज के उपेक्षित जैसा है। समाज में जो वर्ग–वैषम्य आज भीषण रूप से मौजूद है, उसका आधार भी अर्थ–व्यवस्था है। समाजवादी समाज की कल्पना भी अर्थ पर आधारित है। देश की बदलती हुई अर्थ व्यवस्था के प्रभाव में सामाजिक सम्बन्ध भी बदल रहे हैं। मार्क्स ने समाज की प्रत्येक क्रिया के मूल में आर्थिक व्यवस्था को स्वीकार किया है।

**समाज और संस्कृति :** सृष्टि के प्रारंभ में अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य भी एक प्राकृतिक जीव का सृजनात्मक वृत्ति ने उसको सांस्कृतिक प्राणी बना लिया। मनुष्य के प्राकृत राग–द्वेषों में परिवर्तन हो जाने की अवस्था संस्कृति है। यह सामाजिक जीवन की आंतरिक मूल प्रवृत्तियों का संश्लिष्ट रूप है। समाजशास्त्रियों ने सांस्कृतिक विरासत के रूप में प्राप्त सभी प्रकार के ज्ञान को संस्कृति कहा है।

– संस्कृति समाज की रागात्मक चेतना का वाचक है। यह समाज में मनुष्य के जीवन को उन्नत बनानेवाली एक व्यापक अवधारणा है। सभ्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अंतर के विकास का। समाज और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

**समाज और धर्म :** मानव–जीवन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वह संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है और इसलिए समाज का भी। आदिम समाज में वर्षा, तूफ़ान, भूकम्प बिजली आदि से अपनी रक्षा करने में मनुष्य असमर्थ था। इस अवसर पर कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने एक ऐसी शक्ति की रचना की जो आपत्ति से उनकी रक्षा कर सकती थी। धर्म का आरंभ इसी प्रकार हुआ होगा। धर्म उच्चतम और सर्वाधिक मूल्यवान के प्रति पूर्णतया समर्पण है। धर्म ही सामाजिक जीवन के कार्यों और व्यक्ति के उद्देश्यों का निर्धारण एवं नियंत्रण करता है।

धर्म का सामाजिक पक्ष सबसे महत्वपूर्ण है। समाज शास्त्रियों ने व्यक्ति तथा सम्पूर्ण समाज के लिए धर्म का प्रभावकारी स्थान स्वीकार किया है। प्राचीन भारतीय समाज पारलौकिक और धार्मिक था। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक पहलू

से हैं जो व्यक्तित्व के लिए एक महान तत्व है, अतः व्यक्ति या सम्पूर्ण समाज के लिए धर्म का एक प्रभावकारी स्थान है।

**समाज और शिक्षा :** शिक्षा मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक प्रगति हेतु प्राप्त किया जानेवाला प्रयोजनपूर्ण, सचेतन और लाभप्रद अनुभव और ज्ञान है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने चारों ओर होनेवाले कार्यों में अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार भाग लेता है। शिक्षा व्यक्ति को समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने योग्य बनाती है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य जीवन मनुष्य के योग्य बनता है। व्यक्ति और समाज के जीवन में जो कुछ भी विकास है, वह शिक्षा के द्वारा ही हुआ है। शिक्षा की कमी के कारण समाज में अपूर्णताएँ दिखाई देती हैं। राष्ट्र की उन्नति भी शिक्षा प्रणाली पर आधारित है। प्राचीन काल में शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था का भार गुरू पर रहा है। राज्य का शिक्षा पर नियंत्रण बिल्कुल नहीं था। आधुनिक युग में अन्य क्षेत्रों के समान शिक्षा पर भी राजनीति का हस्तक्षेप हुआ। इस प्रकार सामाजिक जीवन में शिक्षा का अत्यधिक महत्व है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति समाजीकृत करके अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। सामाजिक संगठन की निरन्तरता के लिए सामाजिक सच्चाई आवश्यक है जो शिक्षा द्वारा ही संभव है। धार्मिक भावना का जागरण, चरित्र निर्माण व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास, समाज कल्याणकारी प्रवृत्ति पर बल देना, संस्कृति का प्रसार आदि भारती शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य हैं। शिक्षा के महत् उद्देश्यों में आज परिवर्तन आ गया है।[19]

**समाज और साहित्य का सम्बन्ध :** साहित्य किसी समाज की समस्त संवेदनाओं का कोष कहा जा सकता है, क्योंकि साहित्य में ही युग विशेष की सामाजिक मान्यताएँ, सांस्कृतिक प्रतिमान तथा जीवन के मूल्य प्रतिफलित होते हैं। साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से समाज के स्वरूप को अभिव्यक्ति प्रदान करता हुआ युगीन आकांक्षाओं के अनुकूल परिवर्तित समाज निर्मित करने के लिए आह्वान करता है एवं समाज साहित्यकार को सम्पूर्ण परिवेश एवं जीवन की आवश्यक सुविधाएँ प्रदान कर इस योग्य बनाता है कि वह समाज की वाणी को मूर्तरूप प्रदान कर सके। इस प्रकार समाज साहित्यकार का एवं प्रकारांतर से साहित्य का नियामक तथा साहित्य सामाजिकता का संवाहक होता है।

समाज के व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सतत् संघर्ष करते रहते हैं। युगीन साहित्य उस समाज के संघर्ष को वाणी एवं नूतन दिशा प्रदान करता है।[20]

## चेतना शब्द का अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप

अलग-अलग शब्दकोशों में चेतना शब्द के अलग-अलग अर्थ मिलते हैं। इसका

प्रयोग दर्शन और मनोविज्ञान में भी मिलता है। विज्ञानवादी और प्रत्ययवादी दार्शनिक चेतना या विज्ञान को शाश्वत और एकमात्र सत्ता मानते हैं। इस अर्थ में चेतना शब्द आत्मा का समानार्थक बन जाता है। परंतु साहित्य दर्शन में इस अर्थ के लिए प्रायः चैतन्य शब्द का प्रयोग मिलता है। चेतना शब्द का अधिक प्रचलन मनोविज्ञान के क्षेत्र में पाया जाता है। भिन्न-भिन्न शब्द कोशों में चेतना शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है-

समांतर कोश हिन्दी थिसारस में चेतना शब्द का अर्थ इस प्रकार दिए हैं -

1. अनुभूति-एहसास, चेतना, 2. आंतरिक ज्ञान-अनुपदिष्ट ज्ञान, चेतना, 3. इड़-अंतःप्रेरणा, 4. चेतना लाभ होना-होश आना, चेतना आना, 5. जागना, उठना, 6. शारीरिक बल-ओज, चेतना, अंतस्सार, 7. स्फूर्ति-उत्साह। चेतनता, जान जिंदादिला। संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में चेतना शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है - चेतना-सं. (स्त्री) चैतन्य। होश। ज्ञान। बुद्धि। समझ ज्ञानात्मक मनोवृत्ति। 3. स्मृति। याद 4. जीवन क्रि.अ. (हिं.-चेत) संज्ञा में होना। होश में आना। 2. सावधान होना। चौकस होना। क्रि. स. विचारना। समझना।

हिन्दी विश्वकोश में चेतना का अर्थ इस प्रकार दिया है - चेतना - (सं. स्त्री) चित्-युच-टाप। 1. बुद्धि। 2. मन की एक वृत्ति। 3. चैतन्य, चेतनता। 4. चित्तवृत्ति विशेष स्वरूप ज्ञानव्यंजक प्रमाण का असाधारण कारण। 5. स्मृति याद, सुधि। चेतना-हि. क्रि. 1. सावधान होना, चौकन्ना होना। होश में आना। 3. विचारना, सोचना, समझना, ध्यान देना। मानक हिन्दी कोश के दूसरे खण्ड में चेतना शब्द के अर्थ पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है - चेतना-स्त्री (सं. चित् + युच - अन् - टाप) 1. मन की वह वृत्ति या शक्ति जिससे जीव या प्राणी को आंतरिक तत्वों या बातों का अनुभव या भान होता है। होश-हवास। 2. बुद्धि, समझ। 3. मनोवृत्ति, 4. याद, स्मृति। अ (हिं. चेत) 1. संज्ञा से युक्त होना। होश में आना। उदा. - नैन पसारि चेत धन चेत धन चेती। जायसी। 2. ऐसी स्थिति में होना कि बुरे परिणामों या बातों से बचकर अच्छी बातों की ओर ध्यान देना। सं. विचारना। समझना जैसे - किसी बात का भला या बुरा सोचना।

आधुनिक हिन्दी शब्दकोश में चेतना का अर्थ अत्यंत सरल एवं स्पष्ट शब्दों में दिया है, जैसे - चेतना - स्त्री. सं. मन की वह वृत्ति जो जीव को अंतर एवं बाह्य का ज्ञान कराती है, वह स्थिति जो प्राणी के चेतन होने का प्रमाण देती है। संज्ञा, ज्ञान, प्रतिबोध, सजीवता, बुद्धिमत्ता, तर्कनाशक्ति, चेत। वस्तुतः चेतना शब्द अपने आप में बड़ा ही व्यापक अर्थ रखता है। नालंदा विशाल शब्दसागर में चेतना शब्द का अर्थ दिया गया है-

बुद्धि, मनोवृत्ति, ज्ञानात्मक मनोवृत्ति, स्मृति, सधि, चेतनता, होश।

चेतना अंग्रेजी शब्द Consciousness का हिन्दी पर्याय है। आक्सफर्ड डिक्शनरी में चेतना शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है – "Conscious-awake, aware, knowing things, because one is using the bodily seness and mental powers.

Conscious-ness - All the ideas thoughts, feelings, wishes, intentionss, recollections of a person or persons.

चेतना शब्द के उपर्युक्त अर्थों को ध्यान में रखते हुए चेतना का अर्थ इस प्रकार लिया जा सकता है – चेतना बुद्धि या मन की यह विशेष वृत्ति है जिसके कारण मनुष्य या प्राणी अनुभूतियों, भावों, विचारों, बाह्य तथा आंतरिक घटनाओं का अनुभव या एहसास होता है। सोच–समझकर किसी बात की ओर ध्यान देने को चेतना कहा जाता है।

**परिभाषा एवं स्वरूप** : चेतना शब्द की परिभाषा को लेकर भी विद्वानों में मतभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। हिन्दी साहित्य कोश में चेतना को इस तरह परिभाषित किया है – चेतन मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात् वस्तुओं, विषयों, व्यवहारों का ज्ञान। डॉ. अंबलगे के मतानुसार – चेतना प्राणी मात्र में निहित वह शक्ति है जो उन्हें निर्जीव और जड़ वस्तुओं से अलग बनाती है और उन्हें चैतन्यमय बनाकर सजीव सिद्ध करती है। यहाँ स्पष्ट है कि चेतना मनुष्य या प्राणी मात्र की ऐसी शक्ति है जो उसे निर्जीव जड़ वस्तुओं से अलग तो बनाती ही है लेकिन मनुष्य या व्यक्ति–विकास में अहम भूमिका भी निभाती है।

डॉ. गुलाबराय हाड़े चेतना शब्द को परिभाषित करते हुए लिखते हैं – युगीन परिवेश में साँस लेते मनुष्यों में रूढ़ियों के कारण जड़ता या अज्ञानता कहीं–न–कहीं, किसी–न–किसी रूप में सदैव विद्यमान रहती है। युग की अधोगति और तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों में जो विचारधारा की प्रतिभा आकर्षक दीप्त बनकर चमक उठे और जिसके प्रभाव से समूचे युग में नवजागरण की लहर दौड़ जाए, वही चेतना है। उक्त परिभाषा का वास्तविक संबंध हमारे विचार या मन से है। विचारों के अनुसार समाज–परिवर्तन की माँग चेतना के रूप में प्रस्फुटित होती है ऐसा मानना भी अतिश्योक्ति नहीं होगी। इनसायक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटैनिका में लिखा है – Knowing things together is conscious. (वस्तुओं को समग्रता से परखने को ही चेतना कहा गया है।)

कई विद्वानों का मत है कि चेतन को परिभाषा में बाँधना मुश्किल है। चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियों का विवेचन–विश्लेषण किया जा सकता है। निरंतर परिवर्तनशीलता तथा प्रवाह चेतना की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है। देवेन्द्र इस्सर कहते हैं – चेतना को हम अमूल परिवर्तनकारी – तत्व के रूप में तथा लहर के अर्थ में भी स्वीकृत कर सकते हैं। किन्तु यहाँ विलियम जेम्स का यह कथन द्रष्टव्य है – मन में निरंतर परिवर्तनकारी चेतना के प्रवाह द्वारा मस्तिष्क के असंगठित प्रतिबिंबों और विचारों के

तारतम्य को प्रस्तुत किया जाता है। ये विचार दूसरे से संबंधित होते हैं। लेकिन यह संबंध तार्किक होने के कारण नहीं, बल्कि प्रतिपल परिवर्तन के संकल्पों के अनुकूल होता है। इसमें विवरणात्मक तारतम्य नहीं बल्कि बौद्धिक प्रक्रिया प्रस्तुत होती है। स्पष्ट है कि सबकी परिचालिका शक्ति को हम चेतना कह सकते हैं।

डॉ. सुनीता सक्सेना के मतानुसार – चेतना मन की वह प्रवृत्ति है, जो प्राणियों में अंतर और ब्रह्म का ज्ञान कराने की क्षमता उत्पन्न कराती है। इसी शक्ति के कारण प्राणी के जीवित होने का अनुमान होता है।

उक्त विभिन्न परिभाषाओं के विवेचन–विश्लेषण के पश्चात् कहना सही होगा कि चेतना मन की एक ऐसी अवस्था है जिससे मनुष्य को अपनी परिस्थितियों, परिवेश, प्रकृति तथा सामाजिक गतिविधियों का एहसास होता है। परिणामतः वह परिवर्तन की अपेक्षा रखता है। मनुष्य का जीवित रहना भी उसकी चेतनता का ही प्रमाण है इसमें कोई संदेह नहीं है।

चेतना का स्वरूप तथा पृष्ठभूमि व्यापक एवं विस्तृत परिलक्षित होती है जो विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करती है। चेतना सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त है अपितु चेतना का स्तर सर्वत्र समान रूप में नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने चेतना के निश्चेतन, अचेतन, प्रसुप्त चेतन, अति चेतन और पूर्ण चेतन आदि स्तर बताए हैं। निश्चेतन को आदि बिंदु कहा जाता है। पूर्ण चेतन अंतिम सीमा प्रतीत होती है। इसे सर्वांगीण चेतन भी कहते हैं। चेतन जड़ तथा निर्जीव होता है और प्रसुप्त चेतन वनस्पति है। इसे सर्वांगीण चेतन भी कहते हैं। अचेतन जड़ तथा निर्जीव होता है और प्रसुप्त चेतन वनस्पति है। चेतन में प्राणियों का तथा उनकी संवेदनशीलता का स्थूल प्रकट रूप होता है। अतिचेतन का संबंध मानवीय चिंतन से है। इसीलिए यह चिंतनशील मानवीय चेतना है। मानव चेतना बाकी प्राणियों से निश्चित ही भिन्न परिलक्षित होती है और वह श्रेष्ठ भी है। वस्तुतः चेतना बोध प्राप्ति की एक प्रक्रिया है। मनुष्य चेतना क्रियाशील तथा प्रयत्नशील होती है। सोमनाथ शुक्ल कहते हैं – सामाजिक चेतना का अभिप्राय मानवीय इतिहास के अतीत, आधुनिक तथा आगत कालों के एक अथवा अनेक व्यक्तियों की सामाजिक समस्याओं और समाधान के संदर्भ में सजगता और सक्रियता। यहाँ चेतना का सामाजिक रूप दृष्टिगोचर होता है।

**दर्शन के क्षेत्र में चेतना का स्वरूप** : मानव चेतना की तीन विशेषताएँ हैं, वे हैं ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक। भारतीय दार्शनिकों ने इसे सच्चिदानंद रूप कहा है। चेतना वह तत्व है जिसमें ज्ञान और भाव की अनुभूति होती है। उसके प्रति अथवा अप्रिय भाव पैदा होता है और उसके प्रति प्रिय अथवा अप्रिय भाव पैदा होता है और उसके प्रति इच्छा पैदा होती है, जिसके कारण या तो हम उसे अपने समीप लाते हैं

या दूर हटाते हैं।

'दर्शनकोश' में लिखा है – ''वस्तुगत यथार्थ के परिवर्तन का उच्च रूप; जो केवल मनुष्य में अंतर्निहित होता है। चेतना उन मानसिक प्रक्रियाओं का समन्वय है, जो मनुष्य द्वारा वस्तुगत जगत् तथा स्वयं अपने स्वत्व के अवबोध में सक्रिय रूप से भाग लेती है। वह लोगों के सामाजिक–उत्पादक कार्यकलाप, श्रम की प्रक्रिया में उत्पन्न होती है और भाषा के अटूट रूप में जुड़ी होती है।.... किसी भी वस्तु का कोई भी संवेदी बिंब, कोई भी संवेदन या अवधारणा चेतना का भाग होता है, क्योंकि उसमें निश्चित अर्थ होता है। इतिहास द्वारा संचित ज्ञान राजनीतिक तथा विधिक विचार, कला की उपलब्धियाँ, नैतिकता, धर्म, सामाजिक मनोविज्ञान समग्र रूप में समाज की चेतना होते हैं। कहना सही होगा कि बदलाव तथा परिवर्तन के लिए चेतना आवश्यक है जो मनुष्य के पास है। इतिहास, कला, राजनीति, नैतिकता तथा समाज मनोविज्ञान आदि सभी आयामों का संबंध समाज की मूल चेतना से होता है।

चेतना के महत्व को प्रतिपादित करते हुए डॉ. सुरेश सिनहा का कथन द्रष्टव्य है – ''सार्त्र ने अस्तित्व की चेतना और सत्ता को स्वीकार तो किया किन्तु महत्व चेतना को दिया। अस्तित्व चेतना से ही पूरित होता है। चेतना के माध्यम से ही मनुष्य स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है।'' स्पष्ट है कि मनुष्य के लिए स्वतंत्रता अनिवार्य है और वह स्वतंत्रता को मानव–रचना शक्ति का स्रोत समझता है। इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में चेतना का व्याप्त स्वरूप दिखाई देता है।

**मनोविज्ञान के क्षेत्र में चेतना का स्वरूप :** मूलतः चेतना का मनोविज्ञान के साथ घनिष्ठ संबंध है। मनोविज्ञान के भीतर ही उसका विस्तार के साथ अध्ययन–विवेचन–विश्लेषण किया जाता है। मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से चेतना के कारण ही मनुष्य देखता है, सुनता है, समझता है अनेक विषयों पर चिंतन करता है। चेतना के कारण ही मनुष्य को सुख–दुख की अनुभूतियाँ होती हैं। चेतना के कारण ही उसे आंतरिक और बाह्य परिस्थितियों का ज्ञान होता है। चेतना के दमन से मनुष्य का व्यक्तित्व खंडित होता है। डॉ. मंजुला गुप्ता कहती हैं – ''व्यक्ति के जीवन में बाह्य संघर्ष के अतिरिक्त अंतर्मन में वैचारिक संघर्ष भी गतिशील रहता है।'' मनुष्य जीवन में संघर्ष आजीवन चलनेवाली प्रक्रिया है। इस पूरी प्रक्रिया का संचालन चेतना के जरिए ही होता है। चेतना चाहे वह सामाजिक हो, सांस्कृतिक हो, आर्थिक, धार्मिक हो तथा दलित–चेतना हो। इन चेतना के सभी रूपों का संबंध मनुष्य के मस्तिष्क या मन से पहले होता है और बाद में वह व्यापक रूप धारण करती है। रमेश सोनी का कथन इस प्रकार है – ''मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व, उनकी चेतना को निर्धारित करता है। साहित्य मनुष्य समाज के विकास का

परिणाम होता है। वह मनुष्य की सामाजिक चेतना की उपज के साथ-साथ सामाजिक चेतना को उपजाता और आगे बढ़ाता है।'' यहाँ पहले किसी मनुष्य की चेतना जागृत होती है। उस चेतना का संबंध उसके अस्तित्व तथा अस्मिता की रक्षा हेतु होता है। मनुष्य अपने मन में उत्पन्न चेतना का प्रभाव समाज के अन्य लोगों पर साहित्य के माध्यम से या सीधे साक्षात्कार द्वारा पड़ता ही है। अपने मन में उत्पन्न चेतना से वह दूसरे के मन में उसी चेतना का भाव जगाता है।[21]

**सामाजिक चेतना**

''सामाजिक चेतना'' में 'चेनता' शब्द का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। मनोविज्ञान के अनुसार चेतनमानस की प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात वस्तुओं, विषयों तथा व्यवहारों का ज्ञान। चेतना की परिभाषा कठिन है, पर इसका वर्णन हो सकता है। चेतना की प्रमुख विशेषताएँ हैं निरन्तर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह, इस प्रवाह के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य। चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रमाणित होता है और चेतना की अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से। यह चेतना व्यक्तिगत एवं सामूहिक भी हो सकती है। प्रसिद्ध जर्मन विश्लेषणवेत्ता मनोविज्ञानी सी.जी. युगने ''सामूहिक चेतना'' या ''कलेक्टिव साइके'' के बारे में लिखा है – ''सारी चेतना जो व्यक्ति विशेष की न होकर एक ही काल में अनेकानेक व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समुदाय-समाज, राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण मानवजाति की सम्पत्ति हो, सामूहिक चेतना के अन्तर्गत हैं। समाज में नए मूल्यों की स्थापना के सारे प्रयत्नों को सामूहिक चेतना से लोहा लेना पड़ता है। प्रायः देखा जाता है कि समाज विशेष की दार्शनिक, राजनीतिक, साहित्यिक मान्यताओं में तो परिवर्तन आ जाता है, किन्तु सामूहिक चेतना अक्षुण्य रहती है। परिणाम यह होता है कि कालक्रम से या तो नई मान्यताएं अत्यन्त निर्बल अथवा नष्ट हो जाती हैं या उनके क्रान्तिकारी रूप का लोप हो जाता है और वे सामूहिक चेतना द्वारा ग्राह्य रूप में परिणत हो जाती हैं।

सामान्यतः सामाजिक चेतना से हम किसी देश एवं काल-विशेष से सम्बन्धित मानव-समाज में अभिव्यक्त परिवर्तनशील जागृति समझते हैं। यह प्रतिक्रियात्मक भी हो सकती है। जन-जीवन में लक्षित यह जागृति या सामाजिक चेतना तत्कालीन जीवन में उत्पन्न अप्रत्याशित गतिरोध एवं गतिशीलता से उत्पन्न हो सकती है। इसके पीछे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियाँ प्रेरणात्मक हो सकती हैं। अतः इसी सन्दर्भ में सामाजिक चेतना का अध्ययन यहाँ अभिप्रेत है।

हम समाज की सबसे सीधी सादी परिभाषा ही दे सकते हैं कि समाज मनुष्य की समाष्टि का दूसरा नाम है। यदि दूसरे शब्दों में कहें तो व्यष्टियों समुदाय का नाम ही

समाष्टि या समाज है। किन्तु समाजशास्त्र के अनुसार समाज की परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक एवं यथार्थ है। तदनुसार विभिन्न मनुष्यों के अपने भिन्न-भिन्न व्यापारों के कारण उनमें परस्पर उत्पन्न हुई व्यवस्था का नाम समाज है, जिसमें व्यक्ति का महत्व सर्वस्वीकृत है। व्यष्टि के अभाव में समष्टि की स्थिति या अस्तित्व आकाश कुसुमवत है, अर्थात व्यक्ति ही समाज के केन्द्र में है। समाज को व्यक्ति से अलग देखना-परखना भ्रान्ति है। यह सच है कि समाज के नियम व्यक्ति के नियमों से भिन्न हो सकते हैं। कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत नियमों को समाज-सापेक्ष रखकर ही समाज की इकाई बन सकता है और संसार में सुखपूर्वक जी सकता है अन्यथा समाजिक नियमों से परे व्यकित स्वेच्छाचारी व समाज विहीन हो जायेगा। व्यक्ति के धर्म समाज के धर्म नहीं हो सकते, किन्तु समाज के धर्म व्यक्ति के धर्म हो सकते हैं। होते हैं और होने चाहिए। सामाजिक धर्मों का अतिक्रमण व्यक्ति नहीं कर सकता और न करना चाहिए। फिर समाज से विच्छिन्न होकर व्यक्ति जी भी नहीं सकता। यही कारण है कि मनुष्य को एक समाजिक प्राणी कहा गया है। समाज में रहकर ही व्यक्ति सुखी, समृद्ध, प्रगतिशील और महान बन सकता है। समाज से परे रहेने वाले व्यक्तियों में या तो विक्षिप्त वर्ग के लोग आते हैं या निर्जन वनवासी साधु-संयासी या यतिगण आंते हैं। ऐसे लोग समाज निरपेक्ष रहनेवाले और अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाले होते हैं। वास्तव में ये लोग भी पूर्वकालीन भोग्य जीवन के सामाजिक सम्बन्धों की स्मृतियों, पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियों आदि साधनों द्वारा समाज से अविच्छिन्न सम्बन्ध बनाए रखते हैं। यह सिद्ध हो चुका है कि समाज के समभाव से शून्य या सामाजिक जीवन से रहित व्यक्ति ही बहुधा आत्महत्या करते हैं। साथ ही यह तो मनोविज्ञान शास्त्र भी स्वीकार करता है कि जो व्यक्ति जितना बहिर्मुख होगा वह उतना ही सामाजिक होगा। अधिक सामाजिक होने का यह अर्थ कदापि नहीं कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का हनन करके सर्वांशतः परावलम्बी या परमुखापेक्षी बन जाय। ऐसा व्यक्ति तो समाज के लिए भार-रूप ही सिद्ध होता है। वस्तुतः वही व्यक्ति सच्चे अर्थों में सामाजिक है जो एक निश्चित सीमा के भीतर रहकर समाज से समान रूप से आदान-प्रदान करे। ऐसा ही समाजहितकारी व्यक्ति सर्वाधिक जागरुक या चेतना-सम्पन्न हो सकता है। सम्पूर्ण समाज का ढाँचा ऐसे व्यक्तियों पर स्थित है। अर्थात् जैसी व्यष्टि वैसी समष्टि। व्यक्ति यदि चेतना-सम्पन्न है, तो समाज भी चेतना-सम्पन्न होगा। व्यक्ति की चेतना का प्रमाण समाज में प्रवर्तमान विभिन्न क्षेत्रों से उसके अपने सम्बन्धों की प्रबलता या निर्बलता पर आधारित है। यह समाज के लिए भी सही। समाज का सम्बन्ध भी किसी देश या काल विशेष में प्रवर्तमान विभिन्न परिस्थितियों-प्रवृत्तियों से जितना गहरा होगा समाज उतना ही प्रगतिशील एवं चेतना सम्पन्न होगा। वस्तुतः हमें अब यहाँ समाज में परियाप्त उन समस्त परिस्थितियों एवं समाज से उनके सम्बन्ध पर

भी सोचना समझना होगा जो समाजिक चेतना के लिए प्रेरणारूप हैं।

सभी कलाओं का केन्द्र मानव जीवन है। साहित्य के लिए भी यह मान्यतापूर्णतः सत्य है। साहित्य मानव संस्कृति का एक अविभाज्य अंग है। अतः साहित्य सामाजिक चेतना का भी एक अत्यन्त अनिवार्य तत्व है। बल्कि यह कहना अत्यक्ति न होगा कि साहित्य और समाज का परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध है। किसी देश काल की संस्कृति की झलक तत्कालीन एवं तद्देशीय प्रणीत साहित्य में स्पष्ट देखीजा सकती है। इसीसे साहित्य को समाज का दर्पण या प्रतिबिम्ब कहा गया है। समाज के उत्थान-पतन में साहित्य का अत्यधिक योगदान रहता है। इस बात का साक्षी न केवल भारतीय प्रत्युत् विश्व का साहित्य है। देश में चेतना की चिनगारी फूँक कर क्रान्ति की अग्नि प्रज्वलित करने का कार्य उस देश के काल के साहित्य एवं साहित्यकारों ने ही किया है।[22]

मनुष्य की सारी क्रियाओं एवं गतिशील प्रवृत्तियों का मूल कारण चेतना ही है। चेतना का विकास सामाजिक वातावरण के संपर्क से होता है। वातावरण के प्रभाव से मनुष्य नैतिकता और व्यवहार कुशलता प्राप्त करता है। यही चेतना का विकास कहा जाता है। ''विकास की चरम सीमा में चेतना निज स्वतंत्रता की अनुभूति करती है। वह सामाजिक बातों को प्रभावित कर सकती है और उनसे प्रभावित होती है, परन्तु इस प्रभाव से अपने आपको अलग भी कर सकती है। चेतना की इस प्रकार की अनुभूति को शुद्ध चैतन्य कहा जाता है।[23]

किसी मनुष्य की चेतना और चरित्र केवल उसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होती ये बहुत दिनों की सामाजिक प्रक्रिया के परिणाम होते हैं।[24]

जन्म के साथ मनुष्य में चेतना का उदय होता है। यह चेतना व्यक्तिगत अनुभूतियों एवं अनुभवों से गुजरती हुई युग परिवेश को पहचानकर सामाजिक चेतना का रूप धारण करती है। चेतना का धर्म वैयक्तिक एवं सामाजिक जागृति का धर्म है। यह मनुष्य की आत्मिक एवं सत्तात्मक एकता का धर्म है। प्राचीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विकास पर दृष्टि रखने पर यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक चेतना की अक्षुण्णधार निरंतर प्रवहमान होती रहती है। इस विकास-क्रम में व्यक्ति की सत्ता और उसुकी चेतना घुल-मिलकर अजस्त्र सामूहिकता का रूप धारण कर लेती है।[25]

## सामाजिक परिस्थियाँ

19वीं शताब्दी के आरंभ में अंग्रेजों ने भारत की जमीन पर आधिपत्य स्थापित किया। इसके फलस्वरूप भारतीय सामाजिक संगठन में बुनियादी परिवर्तन हुआ। इसके पहले जिस प्रकार भारत का राजनीतिक वातावरण अस्त-व्यस्त था, उसी प्रकार समाज भी रूढ़ि, अन्धविश्वास, छुआछूत की भावना आदि से दूषित रहा था। जाति -पाँति का

बन्धन कठोर होता जा रहा था। नारी भोग्या मात्र रह गई। सती प्रथा, जो पति के मर जाने पर पत्नी के स्वयं जलने की प्रथा थी, प्रचलित थी।

अंग्रेजों के शासनकाल में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार और पश्चिम सभ्यता के प्रभाव से भारत की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आया। औद्योगीकरण के कारण हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था पर चोट लगी। लोग अपने परम्परागत पेशे छोड़ कर दफ्तरों, मिलों और कारखानों में काम करने लगे। अछूतोद्धार एक राजनैतिक समस्या बन गई। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली टूटने लगी। रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का विरोध होने लगा।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में कई सामाजिक संस्थाओं का जन्म हुआ जिन्होंने प्राचीन धर्म को नये समाज के अनुरूप लाने का प्रयत्न किया। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी आदि ऐसी संस्थाएँ थी जिनके प्रवर्तक क्रमशः राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द और एनी बेसेन्ट थी।

**ब्रह्म समाज :** राजा राममोहन राय ने सन् 1815 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। उन्होंने समाजिक कुरीतियों पर तीखा प्रहार किया। उनके प्रयत्नं के फलस्वरूप 1817 में लार्ड विल्यं बेंटिक ने सती प्रथा को कानून द्वारा रोक दिया। ब्रह्म समाज ने जाति-प्रथा को अमानवीय घोषित किया। विधवा विवाह का समर्थन किया, अपने सुधारवादी कार्यों में राममोहन राय को कट्टर हिन्दू और ईसाई पादरियों के विरोध का सामना करना पड़ा। सभी धर्मों के प्रति ब्रह्म समाज सहानुभूतिपूर्ण और उदार था।

ब्रह्म समाज का उद्देश्य एक ऐसी सार्वभौम संस्कृति की स्थापना था, जिसमें पूर्व और पश्चिम दोनों संस्कृतियों का मेल हो सके। इसलिये इसमें पौराणिक विश्वासों पर आधारित राम या कृष्ण की साम्प्रदायिक भक्ति के स्थान पर व्यापक ईश्वरत्व की उपासना पर बल दिया गया। ब्रह्म समाज के उपदेशों में विश्व-बन्धुत्व और विश्व-प्रेम की भावना निहित थी। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशव चन्द्रसेन प्रभृति विद्वानों ने ब्रह्म समाज के लक्ष्यों को आगे बढ़ाया।

**आर्य समाज :** सन 1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। वैदिक मत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके उन्होंने समाज में गौरव की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। उन्होंने मूर्ति-पूजा, बाल-विवाह, अस्पृश्यता आदि का विरोध किया। विधवा विवाह का समर्थन किया, स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित किया। उन्होंने समाज-सुधार पर विशेष बल दिया। उत्तर भारत के सामाजिक जीवन पर आर्य समाज का गहरा प्रभाव पड़ा।

वेदों की नवीन ढंग से व्याख्या करने के अलावा स्वामी दयानन्द ने भारतीय समाज की भौतिक उन्नति के लिए पाश्चात्य शिक्षा को भी स्वीकार करना आवश्यक बताया। कन्या शिक्षा और ब्रह्मचर्य का आर्य समाज ने इतना अधिक प्रचार किया कि हिन्दी प्रांतों में साहित्य के भीतर एक प्रकार की पवित्रतावादी भावना भर गई और हिन्दी के कवि कामिनी–नारी की कल्पना मात्र से घबराने लगे।

**थियोसोफिकल सोसाईटी** : वास्तव में थियोसोफिकल सोसाईटी की स्थापना सन् 1875 में न्यूयार्क में मदाम प्लेवास्की और आलकाट द्वारा हुई थी। भारत में इस संस्था की स्थापना सन् 1882 में हुई और एनी बेसेंट इसकी मुख्य प्रवर्तक थी। सभी मनुष्य एक ही परम सत्ता से निकले और सभी धर्मों के अच्छे लोग एक समान पवित्र हैं। धर्म की भिन्नता से एक मनुष्य दूसरे से भिन्न नहीं हो जाता है। इस संस्था की मूल विचारधारा यह थी।

श्रीमती एनी बेसेन्ट ने हिन्दू धर्म को विश्व के धर्मों में सबसे प्राचीन और सबसे श्रेष्ठ माना था। तिलक द्वारा चलाए गए होमरूल आन्दोलन से प्रेरणा पाकर उन्होंने भारत की राजनीति में भी भाग लिया। उन्होंने बनारस की 'सेंट्रल हिन्दू कालेज' जैसी शिक्षा संस्थाएँ खोलीं। इन संस्थाओं के द्वारा उन्होंने अपने आदर्शों का प्रचार भी किया।

सन् 1867 में बम्बई में केशव चन्द्रसेन के प्रभाव से प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। इसके प्रमुख उन्नायक महादेव गोविंद रनाडे थे। 'समाज के सभी क्षेत्रों में उनकी दृष्टि गई। उनके मतानुसार समाज जीवित अवयवों का संगठन है, जिसमें परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है। इस प्रक्रिया के बन्द हो जाने से समाज मुर्दा हो जायेगा।' रानाडे ने बाल विवाह और जाति–भेद का विरोध किया, स्त्री–शिक्षा, विधवा विवाह और अंतर्जातीय विवाह का समर्थन किया। समाज परिष्कार के प्रति उनकी अभिरुचि थी। वे परम्परा को तोड़ना नहीं चाहते, वरन् उसमें सुधार लाना चाहते थे।

स्वतंत्रता भारतीय समाज में नवीन परिस्थितियाँ और उनके नए परिवर्तन लेकर आई साम्प्रदायिक दंगे, शरणार्थियों का पुनर्वास आदि केवल सामाजिक समस्याएँ न रहकर राजनैतिक समस्याएँ बन गईं। भारत सरकार की ओर से इनका समाधान ढूँढ़ निकाला गया। संविधान की ओर से समाज की रूढ़ियों में परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया। संविधान की ओर से समाज की रूढ़ियों में परिवर्तन लाने का प्रास किया गया। संविधान ने अस्पृशयता को गैर–कानूनी घोषित किया। पहले हरिजनों का मन्दिर में प्रवेश करना निषिद्ध था। सन् 1955 में अस्पृशयता निवारण अधिनियम द्वारा उनको इसका अधिकार मिल गया। इस नियम के अनुसार उनको अपने अधिकारों से वंचित नहीं रखा जा सकता। लेकिन वर्तमान समय में भी जाति–भेद और छुआ–छूत की भावना समाज में

मौजूद है। वह स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की एक बहुत बड़ी कमजोरी है।

औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप लोग गाँवों को छोड़कर शहरों की ओर जाने लगे। सदियों की दासता से जब भारत स्वतंत्र हुआ तो जनता अपनी उन्नति और खुशहाली का सपना देखने लगी। देश में विकास के अनेक कार्य हुए। लेकिन वास्तविक स्थिति यह है कि जो सम्पन्न थे, वे अधिक सम्पन्न बन गए। साधारण जनता के शोषण की प्रक्रिया खूब चली। 'अर्थ ' सामाजिक मान्यता का आधार बन गया। नगरों और गाँवों में अंतर बढ़ने लगा। आवश्यक वस्तुओं का अभाव, महँगाई, बेकारी आदि से लोग पीड़ित रहते हैं। मध्यमवर्गीय  जीवन दुष्कर बन गया। मुद्रा-स्फीति, मूल्य-वृद्धि, नैतिकता का ह्रास, भ्रष्टाचार, कालाबाजारी आदि के कारण जनता में असंतोष व्याप्त हुआ। नगरों में विलासिता बढ़ी।

प्राचीनकाल में भारतीय जीवन का आधार संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली थी। स्वतंत्रता के बाद उत्पन्न परिस्थितियों के कारण संयुक्त कुटुम्ब प्रणली टूट गई और यूरोपीय ढंग के छोटे परिवार बढ़ने लगे। इसका सर्वाधिक प्रभाव नारी जीवन पर पड़ा। संयुक्त परिवार में साधनहीन नारी भी जीवन-निर्वाह कर लेती थी, लेकिन उसके टूटने के फलस्वरूप जीवन निर्वाह के लिए नारी के लिए नौकरी करना अनिवार्य हो गया। फलतः स्त्री-शिक्षा का प्रचार हुआ। विधवा विवाह को प्रोत्साहन मिला। 'हिन्दू कोड बिल', 'तलाक बिल' आदि के द्वारा नारी के अधिकारों को सुरक्षा मिली। नगरों में शिक्षित स्त्रियों की संख्या बढ़ीं। कारखाने, दफ्तर, स्कूल, न्यायालय आदि स्थानों में स्त्रियाँ भी पुरुषों के समकक्ष काम करने लगीं। इस प्रकार उन्होंने आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर रहने का प्रयत्न किया। राजनीति में भी नारी बड़े-बड़े पदों को अलंकृत करने लगी।

स्वतंत्र भारत में साक्षरता बढ़ी। सन् 1951 में साक्षरता 16.7% थी, वह सन् 1971 में 29.34% हो गई। भारत सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा को भी प्रमुख स्थान दिया।

बढ़ती हुई आबादी को रोकने के लिए भारत सरकार ने परिवार-नियोजन आन्दोलन शुरू किया। पतिता स्त्रियों के उत्थान के लिए कई संस्थाएं खोल दी गईं। विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन ने भी समाज में महत्वपूर्ण कार्य किया।

इस प्रकार सामाजिक समस्याओं के समाधान मात्र नहीं, सामाजिक कल्याण के लिए भी अनेक कार्य किए गए। लेकिन स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में व्यक्ति अकेलेपन का अनुभव करता था। वह अपने को असुरक्षित महसूस करता था। समाज में विद्रोह, हिंसा और परस्पर अविश्वास की भावना बढ़ी। देश की स्वतंत्रता ने जहाँ व्यक्ति के सामूहिक विकास के नए क्षितिजों का उद्घाटन किया है, वहाँ व्यक्ति में व्यक्तिवादी चेतना को भी

जन्म दिया है।[27]

## राजनीतिक परिस्थितियाँ

युग–युग से भारतीय जनता विदेशी आक्रमणकारियों के शोषण का शिकार बनी रही। ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ही ईरानी, यवन, मुगलों, अरबों और मराठों ने इस देश में अपना–अपना अधिकार स्थापित किया था।

प्राचीन काल से ही रोम, वेनीस, जेनेवा आदि यूरोपीय राज्य के साथ भारत का व्यापार सम्बन्ध चल रहा था। अरबों ने पुराने व्यापारिक मार्गों पर अपना अधिकार जमा लिया। इसलिए यूरोपियनों को नए मार्ग खोजने पड़े। पुर्तगाल का वास्कोडिगामा 1498 ई. में जलमार्ग से भारत आया। उसने भारत के साथ व्यापार किया। उसने पुर्तगाली ईस्ट इंडिया कम्पनी और गोआ में अपनी राजधानी स्थापित की। फिर भी स्वतंत्र रूप से काम नहीं कर सकता था। प्रत्येक कार्य के लिए उसको गृह सरकार से अनुमति लेनी पड़ती थी। उसकी धार्मिक नीति से भारतीय जनता असन्तुष्ट थी। दूसरी ओर डच लोगों की शक्ति बढ़ रही थी।

पुर्तगाल के बाद डच और फ्रांसीसी व्यापारियों ने भारत के साथ व्यापार किया। उन्होंने अपनी ईस्ट इंडिया कम्पनी स्थापित की और बाद में अधिकार की लालसा जागने से भारत पर शासन करना चाहा, लेकिन वे भारत की जमीन पर टिक न सके।

1600 ई. में भारत में इंग्लिज़ ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना का एकमात्र उद्देश्य व्यापार था। कुछ वर्षो के पश्चात् उन्होंने भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उस समय भारत में राजनैतिक एकता न थी। भारत अनेक छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त थे जो आपस में लड़ा करते थे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मराठों ने भारत पर शासन किया। उनके पश्चात् कोई शक्तिशाली सम्राट न हुआ जो सम्पूर्ण भारत पर शासन कर सकता। भारत में केन्द्रीय शासन की दुर्बलता और आंतरिक कलह से लाभ उठाकर अंग्रेजों ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया और सन् 1957 में प्लासी के युद्ध में बंगाल के अंतिम बहादुर नवाब सिराजुद्दौला को पराजित कर क्लाईव ने भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव डाली। वारन हेस्टिंग्स ने यह नींव दृढ़ बनाई।

भारतीय जनता ने पहले ब्रिटिश शासन को वरदान माना था। अंग्रेजों ने भारत में आकर यातायात तथा आवागमन के साधनों की व्यवस्था की। शिक्षा का व्यापक प्रचार किया। इन सबके होते हुए भी भारतीय सच्चे अर्थ में गुलाम थे। अंग्रेजों ने भारतीयों को सदा हेय दृष्टि से देखा। उन्होंने भारतीयों को अयोग्य समझकर शासन विभाग से उनको अलग रखा था। मनरो ने ठीक ही कहा कि स्वतंत्रता नष्ट करने वाले व्यक्ति को उसका आधा जीवन ही नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार एक गुलाम व्यक्ति एक साधारण व्यक्ति

के अधिकारों से वंचित रहता है उसी प्रकार एक परतंत्र राष्ट्र एक स्वतंत्र राष्ट्र के अधिकारों से भी वंचित रहता है। ऐसे एक राष्ट्र को, जनता से कर वसूल करना, नियमों का निर्माण करना, शासन कार्यों में भाग लेना आदि अधिकार भी नष्ट हो जाते हैं। ब्रिटिश भारत में भारतीयों को ऐसा कोई अधिकार नहीं था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा किए गए राजनीतिक, आर्थिक धार्मिक अत्याचारों के कारण जनता के हृदय में विद्रोही भावना प्रबल हुई। परतंत्र भारतीय जन मानस की स्वतंत्रता की चेतना का भीषण विस्फोट था सन् 1857 की क्रांति, जो इतिहास में सिपाही-विद्रोह के नाम से प्रसिद्ध है। क्रांति असफल रही। भारत का शासन इस्ट इंडिया कंपनी के हाथों से निकलकर महारानी विक्टोरिया के हाथों में चला गया। विक्टोरिया के घोषणा-पत्र से क्रांति की आग बुझ गई। भारतेन्दु जैसे कवियों के मुख से ब्रिटिश शासन के स्तुतिगीत निकलने लगे।

सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना हुई जो भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। क्योंकि कांग्रेस का इतिहास हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई का इतिहास है। सन् 1904 में जापान ने रूस को पराजित करके यूरोपीय राज्यों की अजेयता की कल्पना को गलत सिद्ध किया। 'बंग-भंग' ने बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन को जन्म दिया। बंगाल के विभाजन से भारत में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष का वास्तविक जागरण हुआ।

राष्ट्रीयता की भावना को कुचलने के लिए अंग्रेजों ने भारत में साम्प्रदायिकता का बीजारोपण किया। इसी समय राजनीतिक रंगमंच पर गाँधीजी का प्रवेश हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध में कांग्रेस ने गाँधीजी के नेतृत्व में अंग्रेजों की सहायता की, किन्तु युद्ध के बाद स्वतंत्रता देने का वादा उन्होंने पूरा नहीं किया। इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ा। खिलाफत आन्दोलन के कारण हिन्दू-मुस्लिम एक्य स्थापित हो चुका था। गाँधीजी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ। 1930 में उन्होंने दांडी यात्रा करके नमक कानून तोड़ा विदेशी माल का बहिष्कार किया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की अनुमति के बिना भारत को युद्ध में घसीट लिया। इससे क्रुद्ध होकर मंत्रि-मण्डलों ने पद-त्याग दिया। सन् 1942 में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव को पास किया। सन् 1946 में भारत में अंतरिम सरकार का निर्माण हुआ। 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ।[28]

स्वतंत्रता मिलने के साथ ही सम्पूर्ण भारत, पाकिस्तान और भारत दो टुकड़ों में बँट गया। इतिहासकारों ने साम्प्रदायिक भेद-भाव को विभाजन का कारण बताया। साम्प्रदायिकता का भीषण दृश्य कुछ इस प्रकार है -

'दोनों सम्प्रदाय वाले बदबदा कर हिंसा और मारकाट कर रहे हैं और हाल की भिड़न्त में जिस प्रकार की संगदिली और जुल्म की वारदातें हुई हैं, उनकी मिसाल पहले कहीं नहीं मिलती। मैंने एक कुआँ देखा जिसमें 107 स्त्री-बच्चों ने अपनी आबरू बचाने के लिए छलाँग लगाकर जान दे दी। एक दूसरी जगह एक धर्मस्थान में पुरुषों ने 50 स्त्रियों का इसी कारण अपने हाथों वध कर डाला। मैंने एक घर में हड्डियों के ढेर देखे हैं, जिसमें 307 व्यक्तियों - अधिकांश स्त्री और बच्चों को आक्रमणकारियों ने बंदकर जिन्दा जला डाला था। यदि हम इस प्रकार एक दूसरे से बदला लेने के लिए वार करते रहे तो अन्त में हम नरभक्षी राक्षस या उससे भी ज्यादा पतित हो जाएंगे। ....इसी हृदय-विदारक हालत में, मैंने हिन्दुस्तान का विभाजन स्वीकार कर लिया है।'

विभाजन का परिणाम यह हुआ कि पाकिस्तान से लाखों की संख्या में हिन्दु शरणार्थी बनकर भारत आए। ये दिल्ली में काफी संख्या में एकत्र हो गए। भारत सरकार ने मानवता की भावना से प्रेरित होकर उनकी सहायता की, उनके पुनर्वास के लिए निवास निर्माण की योजना की, उनके जीविकोपार्जन के लिए कई उद्योग आरंभ किए। अपहृतों के पुनर्मिलन का कार्य भी सरकार ने किया। सन् 1955-56 तक कुल मिलाकर 85 लाख व्यक्ति पाकिस्तान से भारत आये।

देश विभाजन, साम्प्रदायिक दंगे और शरणार्थियों के करुण जीवन की प्रतिक्रिया को रोकने के लिए गाँधी जी, अहिंसा की ज्योति जलाकर, जनता से भय का त्याग करने और हृदय में प्रेम बनाए रखने का उपदेश दे रहे थे। इतिहास इस बात का साक्षी है कि उनके मित्र उनके उद्देश्य पर सन्देह करते थे और शत्रु उन्हें ताने देते थे, लेकिन वह हमेशा शहीद बनने के लिए तैयार होकर मनुष्य मात्र में भाई-चारे और सद्भावना का उपदेश देते थे। लेकिन साम्प्रदायिकता की अग्नि बुझ न सकी और 30 जनवरी 1948 को नाथूराम गोडसे ने गोली मारकर उनकी हत्या की।

बापू की हत्या ने सम्पूर्ण विश्व को विचलित कर दिया। यह घटना एक युग की समाप्ति का सूचक थी। लेकिन गाँधी जी का आदर्श सारे विश्व की प्रेरणा बन गयी। बापू की मृत्यु पर समग्र भारतवासियों ने क्षोभ, दुःख और निराशा प्रकट की, लेकिन स्वतंत्र भारत के लोग गाँधी जी के आदर्शों को भूल गए हैं। वे भौतिक दृष्टि से स्वतंत्र होते हुए भी मानसिक दृष्टि से अंग्रेजों के गुलाम रहते हैं।'

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, अनेक स्वतंत्र देशी रियासतों को भारत में सम्मिलित करके एक सुसंगठित राज्य की स्थापना करना देश के सामने प्रमुख समस्या थी। यह समस्या सुलझायी जा रही थी कि बीच में, काश्मीर को हस्तगत करने की आशा से पाकिस्तान ने अक्टूबर 1947 में काश्मीर पर हमला किया। काश्मीर के महाराजा ने भारत सरकार

से सहायता माँगी। अंत में काश्मीर भारत में शामिल हो गया। हैदराबाद राज्य अपनी स्वतंत्र सत्ता रखना चाहता था, लेकिन सितंबर 1948 में वह भारत में शामिल हो गया। जूनागढ़ के नवाब अपनी रियासत को पाकिस्तान में मिलाना चाहते थे, लेकिन जनता ने इसका विरोध किया। अंत में वह भी भारत में सम्मिलित हो गया। सन् 1962 में साम्यवादी चीन के आक्रमण ने तत्कालीन साहित्य को बहुत प्रभावित किया।

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
University of Baroda

संविधान सभा ने 26 नवंबर 1948 को भारत के संविधान का अंतिम रूप स्वीकार किया। 26 जनवरी 1950 को इसे लागू करने स्वतंत्र गणराज्य भारत की स्थापना की गई। सन् 1956 नवम्बर में भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन किया गया। सन् 1956 नवम्बर में भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन किया गया। सन् 1952, 1957, 1962 और 1967 में भारत आम चुनाव हुए। सन् 1964 में पं. नेहरू की मृत्यु के बाद लालबहादुर शास्त्री प्रधानमन्त्री बने। सन् 1966 में उनकी मृत्यु हुई; जिसके बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी भारत की प्रधानमन्त्री बनीं।

इस प्रकार स्वतंत्रता के बाद भारत को न केवल भीतरी, बल्कि बाहरी समस्याओं का भी सामना करना पड़ा। इन समस्याओं को सुलझाने के साथ ही भारत ने अपनी शक्ति भी बढ़ाई। इसके फलस्वरूप थोड़े ही समय में भारत, एशिया का एक प्रमुख राष्ट्र बन गया। विश्व शान्ति के लिए भारत के पंचशील के सिद्धान्त को अपनाया। पंचशील ये हैं –

1. दूसरे देश की सार्वभौमिकता एवं प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान।
2. अनाक्रमण।
3. दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना।
4. समानता तथा पारस्परिक लाभ।
5. शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व।

विश्व भर में शांति स्थापित करने के लिए भारत ने तटस्थता की नीति अपनायी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले कांग्रेस राष्ट्र की प्रमुख राजनीतिक संस्था थी। आज इसके प्रति जनता का विश्वास कम होता जा रहा है। नेता राष्ट्रहित के स्थान पर निजी स्वार्थ को लक्ष्य बनाते रहे हैं। वे जातीयता के नाम पर वोट बटोरकर जनतंत्र का नाश कर रहे हैं। राजनैतिक क्षेत्र में पार्टियों की संख्या बढ़ रही है। इनका लक्ष्य जनसेवा न रहकर निजी स्वार्थों की पूर्ति है। साहित्यकारों ने राजनीति का यथार्थ रूप जनता के सामने रखा।

**आर्थिक परिस्थितियाँ**

अंग्रेजों के शासन के पहले भारत की अर्थ-व्यवस्था गाँवों पर आधारित थी। गाँव आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर थे। मार्क्स ने इस बात का उल्लेख करते हुए 'कैपिटल' में लिखा है कि सब लोग मिलकर खेती करते हैं और आपस में पैदावार बाँट लेते हैं। इनके साथ-साथ कातने और बुनने का काम प्रत्येक परिवार में सहायक धन्धे के रूप में होता है। जमीन पर सबका समान अधिकार था।

वैदिक काल से खेती हमारे प्रमुख धन्धे के रूप में चल रही है। मुगल बादशाहों के शासनकाल में भारत समृद्ध था। लगभग सन् 1757 के भारत की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई।

18वीं शती के उत्तरार्द्ध में यूरोप में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप तैयार किये गये माल की खपत के लिए इंग्लैंड ने भारत को अपना बाजार बनाया। औद्योगिक क्रांति का प्रभाव भारत पर भी पड़ा।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना ने भारत की आर्थिक व्यवस्था को क्षति पहुँचायी। अंग्रेजों ने भारत के कच्चे माल को इंग्लैंड भेजा और तैयार किये गये माल से भारत का बाजार भर दिया। भारत के कुटीर उद्योग नष्ट-भ्रष्ट हो गये। कारीगर, दस्तकार और शिल्पकार के अपने प्राचीन जीविकाधार उद्योग नष्ट हो गए और वे खेती करने लगे।

अंग्रेजों ने भारत में जमींदारी प्रथा को जन्म दिया। इसके फलस्वरूप किसानों की दशा अत्यन्त शोचनीय बन गई। भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार मिलने से जमींदार भूमि बेच सकते थे। इस अधिकार ने भूमि पर किसानों के अधिकारों को समाप्त कर दिया।

विक्टोरिया के शासन काल में भारत का आर्थिक शोषण हुआ। भारत के उद्योग-धन्धों को पूर्ण रूप से नष्ट करने के लिए लार्ड लिंटन ने भारत में आयात की जानेवाली कई वस्तुओं पर से कर हटा दिया। भूख और अकाल के कारण लाखों व्यक्ति मर गये। दुर्भिक्ष और महामारियों से लोग पीड़ित हुए। मध्यकालीन सामंती व्यवस्था के स्थान पर पूँजीवादी व्यवस्था की स्थापना हुई। ब्रिटिश पूँजीपतियों ने इस देश में कई कारखाने खोले और अपनी पूँजी बढ़ाने के लिए लाभप्रद वस्तुओं का ही निर्माण किया।

दो विश्वयुद्धों के बाद देश की गरीबी बढ़ी। कई बार अकाल पड़ा। अंग्रेजों की आर्थिक नीति से समाज के उच्च-वर्ग के लोगों को ही कुछ फायदा मिला। जिन लोगों ने पहले अंग्रेजी शासन को वरदान समझकर उसकी प्रशंसा की थी, उनको अंग्रेजों की शोषण नीति ने धक्का पहुँचाया।[30]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद समाज का ढाँचा बदल गया। विभाजन, युद्ध, शरणार्थी-समस्या आदि कारणों से देश की आर्थिक स्थिति शिथिल हुई। स्वतंत्र भारत के लिए पहले 2750 लाख रुपये थे, जिसमें से 1000 लाख से भी अधिक शरणार्थियों के

पुनर्वास के लिए खर्च किया गया।

पूर्वी बंगाल संसार में सबसे अधिक जूट उत्पादन करने वाले देश था। विभाजन के पश्चात् वह पाकिस्तान में शामिल हो गया। गेहूँ, चावल, कपास आदि के उत्पादन केन्द्र भी पाकिस्तान में चले गए। इसलिए स्वतंत्रता के बाद भारत में इन चीजों की कमी हुई। पहले हम भारत से जूट, रुई आदि निर्यात करते थे, लेकिन स्वतंत्रता के बाद इन वस्तुओं का आयात करना पड़ा।

खाद्यान्न की समस्या को सुलझाने के लिए 1948 में इस पर रखा गया नियंत्रण सरकार ने हटा दिया। अन्न की कमी के कारण उसके भाव बढ़ गये। विदेशों से अन्न मंगवाकर सरकार ने इस समस्या को हल किया।

जनसंख्या और जीवन की बाह्य परिस्थितियों में काफी अंतर हुआ। सन् 1962 में चीन और सन् 1965 में पाकिस्तान से युद्ध करने के कारण भारत की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। सन् 1965-67 में भारत में अकाल पड़ा। इसने खाद्यान्न के उत्पादन में बाधा पहुँचाई।

प्राचीन काल से भारत कृषि प्रधन देश रहा और यहाँ की अर्थ-व्यवस्था का आधार गाँव थे। स्वतंत्रता के बाद सरकार ने जमींदारी प्रथा का अंत किया। किसान खेतों का मालिक बन गया। स्वतंत्रता के पश्चात् देश के सामने, प्राकृतिक साधनों का विकास करके नए भारत का निर्माण करना, सबसे बड़ी समस्या थी।

देश की आर्थिक उन्नति के लिए भारत सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं का आयोजन किया। आलोच्य कालावधि के अंतर्गत तीन पंचवर्षीय (1951-56, 1956-61, 1961-66) और तीन एक वर्षीय (1966-67, 1967-68, 1968-69) योजनाओं का आयोजन किया। प्रथम पंचवर्षीय योजना सन् 1951 में आरंभ हुई। इसमें कृषि और खाद्यान्नों का उत्पादन, सिंचाई और जल विद्युत्-विकास, स्वास्थ्य रक्षा, विस्थापितों के पुनर्वास आदि पर बल दिया गया। द्वितीय योजना में छोटे-बड़े उद्योगों के विकास पर ध्यान दिया गया। तृतीय योजना में उद्योगों के विकास के साथ खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर बनने का लक्ष्य भी रखा गया। इन योजनाओं का लक्ष्य देश का सर्वतोन्मुखी विकास करना था और प्रथम योजना के अंतिम वर्ष तक आते-आते भारत की आर्थिक स्थिति में आश्चर्यजनक सुधार आया।

औद्योगिक क्षेत्र में भी काफी प्रगति हुई। कोयला, लोहा आदि के उत्पादन में आशातीत वृद्धि आई। चित्तरंजन में रेलवे इंजन बनाने के लिए एक कारखाना खोल दिया गया। सरकार ने कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया। श्रमिक कल्याण के लिए भी कई योजनाएँ शुरू की गईं। गाँवों में सहकारी समितियाँ स्थापित की गईं। इससे किसानों को

सस्ते सूद पर कर्ज लेने की सहायता मिली।

इन सब प्रयत्नों के बावजूद देश अब भी गरीब है। देश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रहती है। बेकारी और महँगाई बढ़ी। रुपये का अवमूल्यन हुआ। इसका कारण हमारे देश की पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था है। धनी लोग अधिक सम्पन्न बनते जा रहे हैं और साधारण जन जीने के लिए तड़प रहा है। पूँजीवादी व्यवस्था के फलस्वरूप समाज दो वर्गों में बँट गया है – उच्च वर्ग और निम्न वर्ग अथवा शोषक वर्ग और शोषित वर्ग। समाज में इन दोनों के बीच मध्यमवर्ग की स्थिति अधिक दयनीय है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज के असंतोष का मूल कारण यह असन्तुलित आर्थिक व्यवस्था है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में जिस सुखी और सम्पन्न जीवन की कल्पना जनता के मन में थी, वह पूरी न हो सकी। इस कारण से उनमें निराशा और क्षोभ की मनोवृत्तियों का जन्म हुआ।[31]

## सांस्कृतिक – धार्मिक परिस्थितियाँ

बाह्य विभिन्नताएँ होने पर भी, प्राचीन काल से ही भारत में सांस्कृतिक एकता थी। 'रक्त , रंग, भाषा, वेश, रीति-रिवाज और सम्प्रदाय आदि की असंख्य विभिन्नताएँ रहते हुए भी एक मौलिक एकता रही है।'

वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और गीता हमारी संस्कृति के आधार स्तंभ हैं। आर्यों ने वेदों की रचना करके यह सिद्ध कर दिया कि जिस समय सम्पूर्ण विश्व अर्द्ध सभ्य था, उस समय भारत की सभ्यता उन्नति के शिखर पर थी।

सत्य और अहिंसा-जिसका गाँधीजी ने स्वतंत्रता संग्राम में प्रबल अस्त्र के रूप में प्रयोग किया था, वैदिक काल से ही समाज में चली आ रही थी। महाकाव्य काल से इन सिद्धान्तों का प्रचार हो रहा था। बुद्धदेव ने अहिंसा को एक महान् धर्म कहकर अपने नैतिक सिद्धान्तों में प्रमुख स्थान दिया। उपनिषदों ने समाज के सामने यह आदर्श उपस्थित किया है कि जीवन का सच्चा सुख भोग में नहीं त्याग मे है।

वैदिक युग में लोग प्राकृतिक देवताओं-वायु, पृथ्वी और आकाश को देवता मानकर पूजा करते थे। जीवन में यज्ञ की प्रधानता होने के कारण वैदिक समाज में पुरोहितों और ब्राह्मणों का महत्व बढ़ा। धीरे-धीरे वैदिक धर्म दूषित हो गया तो इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्ध और जैन धर्मों का आविर्भाव हुआ। बुद्ध और महावीर के नेतृत्व में भारत में जो धार्मिक क्रांति हुई, उसकी छाप हमारी संस्कृति पर अवश्य पड़ी। अशोक, अकबर जैसे राजाओं ने देश की धार्मिक उन्नति के लिए अनेक कार्य किये।

गुप्त सम्राटों ने कवियों तथा विद्वानों का सम्मान किया। हर्षवर्द्धन के शासनकाल में

साहित्य की विशेष अभिवृद्धि हुई।

विदेशियों ने समय-समय पर भारत पर आक्रमण किया। उन्होंने भारत को लूटा और भारत पर अधिकार भी स्थापित किया, लेकिन वे भारतीय संस्कृति और सभ्यता से टक्कर न ले सके। अंग्रेज पहले विजेता थे जिन्होंने भारत को लूटने के साथ-साथ उनकी संस्कृति और सभ्यता को भी ध्वस्त कर दिया।

19वीं शती के आरंभ में ही अंग्रेजों का ध्यान भारत के शिक्षा क्षेत्र की ओर गया। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में संस्कृत, फारसी और अरबी की शिक्षा दी जाती थी। सन् 1835 में बेंटिक ने भारतवासियों को अंग्रेजी शिक्षा देने की घोषणा कर दी। पाश्चात्य संपर्क और अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के कारण विद्यार्थियों का मानसिक विकास अवरुद्ध हो गया, भारतीय समाज पर अंग्रेजी सभ्यता की गहरी छाप पड़ने लगी और भारतीय संस्कृति और सभ्यता को क्षति पहुँची।

भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा देने का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए मेकाले ने एक स्थान पर लिखा है। 'हम लोगों को मनुष्यों की एक ऐसी श्रेणी की सृष्टि करने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना चाहिए, जो रक्त और रंग में हिन्दुस्तानी हो, किन्तु रुचि, विचार, भाषा और बुद्धि में अंग्रेज हो।'

अंग्रेजी शासकों ने भारतवासियों को राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता जैसे विचारों से दूर रखना चाहा, लेकिन बात ठीक इसके विपरीत हुई। अंग्रेजी शिक्षा ने भारत में पत्रकारिता को जन्म दिया। इसके फलस्वरूप प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य की उन्नति हुई।[32]

इतिहास, भूगोल, भाषा, आचार-विचार आदि में वैविध्य होने पर भी भारतीय जीवन की अतल गहराई में जो एकता विद्यमान है वह सारे विश्व में अतुलनीय रही है। यही भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। स्वतंत्रता के बाद बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में भारत में पाश्चात्य और भारतीय संस्कृति का समन्वित रूप देखा जा सकता है।

धर्म के नाम पर भारत का विभाजन हुआ। अनेक साम्प्रदायिक दंगे हुए। फिर भी कांग्रेसी नेताओं ने भारतवर्ष में किसी एक धर्म की प्रमुखता को नहीं स्वीकारा। स्वतंत्र भारत को धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया।

भारत सरकार ने सन् 1954 में ललित कला अकादमी, साहित्य अकादमी और सन् 1953 में संगीत-नाटक अकादमी स्थापित करके भारतीय साहित्य अकादमी और सन् 1953 में संगीत-नाटक अकादमी स्थापित करके भारतीय साहित्य और कला को प्रोत्साहित किया। हिन्दी राजभाषा घोषित की गई। लेकिन आज भी अधिकांश काम अंग्रेजी में ही चल रहा है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ। सन् 1954 में भारत में 19 विश्वविद्यालय थे। सन् 1970 में उनकी संख्या 79 हो गई। इस तरह सन् 1947 में जो 636 कलालय थे वे सन् 1970 में 3000 बन गए। सरकार ने शिक्षा के अवलोकन के लिए सन् 1948 में 'विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (University education Commission), सन् 1962 में सेकेंडरी एजुकेशन कमीशन (Secondary Education Commission) और सन् 1966 में 'कोठारी कमीशन' नियुक्त किया।

शिक्षा के क्षेत्र में कालानुकूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता पर इन समितियों ने जोर दिया। इनके महत्वपूर्ण सुझावों की उपेक्षा करने के कारण हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं से मेल नहीं खाती है। शिक्षित बेकारों की संख्या बढ़ गई।

अंग्रेजों ने हमारे देश में जिस शिक्षा का प्रचार किया, उसका उद्देश्य अपने शासन कार्यों में सहयोग देने के लिए कर्मचारियों को पैदा करना था। भारत का वर्तमान शिक्षा क्षेत्र अस्पष्टता और अराजकता से भरा हुआ है।

शिक्षा का विकास होने के कारण मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की संख्या बढ़ी। आर्थिक सम्पन्नता और सुखी जीवन, संस्कृति और सभ्यता को पर्याय बन गए। प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति और सभ्यता को पर्याय बन गए। प्राचीनकाल में भारतीय संस्कृति अध्यात्म पर आधारित थी। वर्तमान युग में भौतिकवादी दृष्टि प्रमुख है।[33]

## साहित्य और समाज

व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण वाङ्मय को साहित्य कहा जा सकता है। 'वाणी के माध्यम से आत्म-तत्व की अभिव्यक्ति वाङ्मय है। साहित्य (काव्य) इसका एक भेद है। विकासशील मानव जीवन के मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति, यही साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है। साहित्य मनुष्य के स्वप्नों और कल्पनाओं को रूप देने वाली सशक्त कला है। समसामयिक घटनाओं से निरपेक्ष होकर अच्छे साहित्य का सृजन संभव नहीं।

– साहित्य का मानवजीवन के साथ चिरंतन सम्बन्ध होता है। सामाजिक प्राणी होने के कारण क्रिया-कलापों में ही नहीं, विचारों में भी वह सामाजिक बना रहता है। समाज के किसी वर्ग से साहित्यकार का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। यह परिवेश रचनाकार की मनोवृत्ति और उसके द्वारा साहित्यिक चेतना को प्रभावित करती है। 'साहित्य अपने व्यक्त या मूर्त रूप में रचना अथवा कृति है, किन्तु अव्यक्त रूप में कृति के पीछे कृतिकार का व्यक्तित्व और कृतिकार के व्यक्तित्व के पीछे उसका सामाजिक परिवेश रहता है। अतः साहित्य का एक छोर समाजिक परिवेश के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है।

– संस्कृत के आचार्यों ने साहित्य के सामाजिक परिवेश के महत्व की ओर संकेत

किया है। यह परम्परा आधुनिक भारतीय भषाओं के साहित्य में आई। मध्ययुगीन भक्ति प्रधान रचनाओं में साहित्य और समाज के परस्पर सम्बन्ध का संकेत मिलता है। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यो ने भी साहित्य और समाज के सम्बन्ध को स्वीकार किया है। भरत के नाट्यशास्त्र से भारतीय काव्यशास्त्र का आरंभ होता है। इसमें साहित्य के सामाजिक आधार के बारे में प्रचुर एवं प्रामाणिक उल्लेख मिलता है। जैसे –

दुखार्तानां, श्रमार्तानां, शोकार्तानां तपस्विनाम।

विश्रान्तिजननं काले नाटयमेतद्भविष्यति।

जिस प्रकार समाजिक परिवेश साहित्यकार को प्रभावित करता है उसी प्रकार साहित्य व्यक्ति को प्रभावित करता है और उसके द्वारा समाज को भी। इस प्रभाव को आयुध बनाकर साहित्यकार समाज में परिवर्तन ला सकता है। 'साहित्य के लिए मनुष्य से बड़ा और कोई दूसरा सत्य संसार में नहीं है और उसे पा लेने में ही उसकी सार्थकता है जो साहित्य मनुष्य के सुख–दुःख का साझीदार नहीं, उससे विरोध करना है। जहाँ तक जीवन है, जहाँ तक मनुष्य है, जहाँ तक सृष्टि है वहाँ उसकी गति है। उसके लिए कुछ भी त्याज्य नहीं है।[34]

**साहित्य में सामाजिक चेतना** : साहित्यकार जिन परिस्थितियों में रचना करता है वह उसका समाजिक परिवेश है। कृति की रचना जिन सामाजिक संदर्भो को आधार बनाती है और जिन परिस्थितियों में पूर्ण होती है वह कृति का सामाजिक परिवेश है । पाठक का परिवेश इन दोनों से प्रायः भिन्न होता है। इन तीनों सामाजिक परिवेश का विश्लेषण साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन है।

– प्राचीन भारतीय वाङ्मय देश की सामाजिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। मानव सभ्यता के विकास की आदिम अवस्था के समय समाज में धर्म की प्रधानता थी। इस कारण से उस समय धार्मिक कृतियों की रचना अधिक मात्रा में हुई। धार्मिक कृतियों के रचयिताओं को समाज में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। भारतवर्ष का प्राचीनतम ग्रन्थवेद है। आर्यो ने वेदों की रचना की। वेदों और उपनिषदों में दयालुता, सहिष्णुता, यज्ञ, कर्म, गृहस्थ–जीवन जैसे समस्त सामाजिक क्रियाओं, आचार–विचारों का उल्लेख मिलता है रामायण और महाभारत में उस समय के सामाजिक जीवन का चित्र मिलता है। गीता समाज को कर्म का सन्देश देती है। कालिदास का रघुवंश, अभिज्ञान शाकुन्तलम, भवभूति का उत्तररामचरितम् जैसी संस्कृत की विख्यात रचनाओं में तत्कालीन समाज जीवित रहता है।

रीतिकाल के कवि राज्याश्रित थे। अपने आश्रयदाता के विषय में काव्य–रचना करते थे। भक्तिकाल की रचनाओं में सामाजिक चेतना अत्यंत प्रखर है। मध्ययुग धर्म प्रधान

युग था। इसलिए उस समय सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति धर्म के रूप में होती थी। उदाहरण तुलसी, कबीर।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य साहित्य एवं संस्कृति के सम्पर्क के फलस्वरूप देश–भर में एक नवीन चेतना व्याप्त हो गई है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में नवयुग की चेतना विभिन्न रूपों में उभरी है। अंग्रेजी शासन ने इस चेतना को उद्बुद्ध किया।

भारतेन्दु युग में यह चेतना सामाजिक द्वन्द्व के रूप में थी। द्विवेदी युग में समाज–सुधार के रूप में थी। छायावादी युग में मानवतावादी चिन्तन के रूप में इसकी अभिव्यक्ति हुई। प्रगतिवादी युग में सामाजिक चेतना मार्क्सवादी विचारधारा के आवरण में प्रकट हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद साहित्य में विशेषकर कविता के क्षेत्र में सामाजिक चेतना जीवन की गहराई में प्रवेश करने वाली है।

**कविता और सामाजिक चेतना**

साहित्य की अभिव्यक्ति के दो रूप होते हैं – गद्य और पद्य अथवा कविता। कविता मनुष्य के साधारण भावों का उन्मेष है। कविता का जन्म आदिम समाज में जादुई क्रिया के रूप ममें हुआ था। वह दैवी शक्तियों के आवाहन और समाजिक तादात्म्य का साधन थी। मध्ययुग में वह धार्मिक वृत्तियों की वाहिका या सामन्तों को देवतुल्य स्थिति में पहुँचाने का अस्त्र थी। कविता का श्रेष्ठत्व उसके मूल में स्थित जीवन चेतना का ही श्रेष्ठत्व है।

कवि समाज का सबसे अधिक संवेदनशील प्राणी है। 'कवि वह बात कहता है जिसको सब लोग अनुभव करते हैं, किन्तु जिसको सब लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव शक्ति औरों से बढ़ी–चढ़ी होती है। कवि की पुकार समाज की पुकार होती है। वह समाज के भावों को अपनी वाणी का बल ही नहीं देता वरन् कभी उन्हें नई दिशा भी देता है।

हिन्दी कविता के क्षेत्र में सामाजिक चेतना का समावेश आदि काल से हुआ है। सिद्ध साहित्य और जैन साहित्य, बौद्ध धर्म और जैन मत का प्रचार करने के उद्देश्य से लिखा गया। राजाओं के चरित्र तथा प्रशंसा के लिए रासो काव्य लिखा गया। उदाहरण खुमाण रासों, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो।

मध्ययुग में कबीर, सूर, तुलसी जैसे महान कवियों ने समाज का मार्ग दर्शन किया पूर्व मध्यकालीन भारत में हिन्दुओं की समाजिक अवस्था दयनीय थी। सतीप्रथा प्रचलित थी। दास–प्रथा खूब चलती थी। आर्थिक असमानता समाज को खा रही थी। हिन्दू जनता धार्मिक अत्याचारों का शिकार बनी थी।

इस समय हिन्दू जनता ने ईश्वर की उपासना की और भक्तिमार्ग का उदय हुआ उसी समय भारत में सूफी मत का प्रचार हुआ। मध्ययुग में वर्ण व्यवस्था ने कठोर रूप धारण किया। मुसलमानों के प्रभाव से पर्दा–प्रथा का प्रचलन हुआ। हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म के बीच संघर्ष हुआ हिन्दी के भक्त कवियों ने तीखी वाणी में समाज की आलोचना की। कबीर ने जात–पाँत, अन्धविश्वास, बाह्यडम्बर, मूर्तिपूजा आदि सामाजिक कुरीतियों का खुलकर विरोध किया। समाज में व्याप्त दुराचारों के विरुद्ध उन्होंने आवाज उठाई। साम्प्रदायिक भेद–भावना का विरोध करके हिन्दू–मुस्लिम एकता का सन्देश दिया। 'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने अपने समय के समाज का चित्रण किया और रामराज्य का आदर्श प्रस्तुत किया। सूरदास के पदों में ब्रज की सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति का रूप मिलता है रीतिकालीन कवि दरबारी थे। इसलिए इस काल की कविता में एक सीमित विशिष्ट वर्ग के जीवन का चित्रण हुआ है। इस काल के कविता में शृंगार रस प्रमुख है। आधुनिक युग में आते–आते तो कविता में सामाजिक एवं सामयिक यथार्थ के चित्रण का आग्रह बढ़ने लगा और इसकी चरम परिणति कविताओं में देखी जी सकती है।[35]

**यथार्थ चित्रण :** छायावाद युग में काव्य को धरातल धरा से उठकर गगनतल तक उठ गया था। कवि कल्पना के रथ पर चढ़कर वस्तु स्थिति की उपेक्षा कर बहुत आगे जा चुका था। समाज कवि से भूखी आँखों से मूक याचना करता था, पर सुनता कौन ? स्वछन्द रूप से आकाश चारी छायावादी कवि कपोत को दाने के लिए जमीन पर उतरना पड़ा। तुहिन अश्रुओं को छोड़कर कवि ने समाज सच्चे आंसुओं को अपने अंचल में समेटा।

युग की पुकार को कल्पना के कवि पंत नहीं रोक सके। उनकी भी युग पुकार

'देखो भू को !

जीव प्रसू को !

* * *

कुंजति गुंजित

कुसुमित भू को।'

के रूप में निकल पड़ी। युग जीवन भी साथ ही पुकार उठा व्योम कुंजों की परी अयि कल्पने आ उतर हंसले वन फूल में। 'श्रमिक वर्ग के पूंजी वादियों के साथ किये गये संघर्ष का, सड़क पर पत्थर तोड़ती।' हुई गरीब सत्री का, 'दो टूक कलेजे के करने वाले भिक्षुक का भी कविता मुक्तकंठ से वर्णन करने लगी। क्रान्ति के विस्फोटक तत्व सामने आने लगे।

'हो समाज चिथड़े चिथड़े शोषण पर जिसकी नींव पड़ी'

समाज की वस्तुस्थिति का चित्र देखिये –

'कही एक कौने में बैठा, हाथ चरस की चिलम दबये,
गुप चुप– गुप चुप फूंक लगाता, शेष आयु का धुँआ उड़ाता।
चन्दू चना चबैना खाता।'

– शोषितों के साथ–साथ शोषकों के जीवन के वैषम्य के भी सुन्दर स्पष्ट चित्र आधुनिक कविता में मिलते हैं। एक ओर अभ्रभेदी धवल महल खड़े हैं तो दूसरी ओर मटमैला झोंपड़ी हैं जो सफेद कोढ़ में कालादाग सी दीखती है। एक ओर खान दूध पीते हैं तो गरीब का बालक भूख से चिल्लाता है, पेट–पीठ से मिलने को आतुर होता है, भूख से कलेजा टूक–टूक होता है –

'श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
नारी के लज्जा वसन बेच जब व्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक तब तेल–फुलेलों पर पानी–सा द्रव्य बहाते हैं।

अतः स्पष्ट है कि यथार्थ चित्र की ओर कविता उन्मुख हो चुकी थी।[36]

नयी कविता का यह महत्वपूर्ण वर्ग सामाजिक चेतना के रूप को लेकर किस प्रकार उसे समृद्ध बना रहा है, यह समझने के लिए यहाँ कुछ उदाहरण अपेक्षित हैं। परन्तु उसके साथ यह स्पष्ट जान लेना आवश्यक है कि नयी कविता का किसी वाद से कोई सम्बन्ध नहीं है – चाहे वह प्रगतिवाद हो, चाहे प्रयोगवाद। सामाजिक चेतना प्रधान नयी कविता किसी वाद की संकीर्णता स्वीकार कर समाज को शोषक, शोषित या बूर्जुआ और सर्वहारा के वर्गों में नहीं बाँधती, और न वह केवल प्रयोगों के लिए लक्ष्यहीन स्थिति के शिल्प–प्रयोग ही करती है। उसका एक सुनिर्दिष्ट मार्ग है। वह इस तथ्य को स्वीकार करती है कि व्यक्ति समाज का ही एक अखण्ड अंग है, अतः उसकी व्यक्तिगत स्थितियाँ, अनुभूतियाँ, चेतन–अवचेतन की विभिन्न आकृतियाँ सब समाज के विभिन्न सन्दर्भो की ही देन है। सामाजिक चेतना को प्रधानता देने वाली नयी कविता व्यक्ति की कुंठाओं निराशाओं, अनास्थाओं आदि के घरोंदे बनाना अनावश्यक और प्राचीनता के निकट मानती है।[37]

– सामाजिक चेतना को नयी कविता में प्रतिष्ठित करने वाले नये कवियों का वर्ग अब भी जबकि आज आधुनिकता के नाम पर, पाश्चात्य जीवन का हिन्दी काव्य में बड़ी तीव्र गति से अनुवाद हो रहा है, सबसे बड़ा वर्ग है और सर्वाधिक समर्थ भी। इस वर्ग

के कवियों ने समाज का महत्व स्वीकार किया है। समाज की व्यवस्थाओं को बदलकर नए रूपाकार देने की चेष्टा की है तथा व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्वस्थ बनाने के लिए व्यक्ति के चेतन व अवचेतन दोनों ही रूपों का स्वस्थ रूप में अनावरण कर उन्हें समाज से जोड़ा है।[38]

सामाजिक चेतना को स्वर देने वाला नया कवि अपनी दृष्टि को व्यापक बनाकर ही व्यक्ति के अन्बोध स्वरूपों का उद्घाटन करता है। वह व्यक्ति की विवशताओं और बंधनों की उपेक्षा करता हो ऐसी बात नहीं। बल्कि वह उन्हें जन्म देने वाले सन्दर्भों के बोध से भी संश्लिष्ट करता है। कुछ पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में दृष्टव्य हैं –

ताज बदल रहे हैं
आदमी की आवाज बदल रही है,
धरती से चांद मिलने आ रहा है,
किन्तु
मेहनतकश हाथों की रोटी का सवाल उलझाता जा रहा है।[39]

**उपन्यास और समाजिक चेतना :** हिन्दी साहित्य के आरंभिक काल में काव्य की रचना अधिक होती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य के प्रचार के साथ हिन्दी में कहानी और उपन्यास की रचना आरंभ हुई। बीसवीं शताब्दी के पूर्व उपन्यास केवल मनोरंजन के लिए लिखा जाता था। धीरे-धीरे विशेष उद्देश्यों के प्रचार और समाज-सुधार के लिए उपन्यासों की रचना आरंभ हुई। हिन्दी उपन्यास का आरंभ उपदेश, नीति और सुधारवादिता से हुआ था और आज वह कृषक, श्रमिक, मध्यमवर्ग तथा समाज के अन्य दलित और उपेक्षित वर्गो के चित्रण से विकसित हो रहा है।

– भारतेन्दु के समय से लेकर उपन्यासों में सामाजिक चेतना जागृत हुई। सामाजिक और धार्मिक सुधार, गुण-दोषों का विवेचन, नैतिक अनुशासन आदि इस काल के उपन्यासों का उद्देश्य था। 'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम', 'नये बाबू' और कल्पलता में देश-प्रेम और सामाजिक कुरीतियों का विरोध मुख्य विषय रहा। 'निस्सहाय हिन्दू' (राधाकृषणदास) में मुसलमानों की धर्मान्धता और हिन्दुओं की दयनीय स्थिति की अभिव्यक्ति है। 'स्वर्गीय कुसुम' देववासी प्रथा का विरोध करता है। 'परीक्षा गुरु' का सेठ मदनमोहन भारतीय समाज के पतन का प्रतीक है।

– आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि संस्थाओं की सुधारवादी आन्दोलनों के माध्यम से भारत में राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। इन सुधारवादी आन्दोलनों के माध्यम से भारत में राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। इन सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव

प्रारंभिक उपन्यासों पर पड़ा है। राजा राम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती, प्रभृति समाज सुधारकों का विश्वास था कि भारतीय समाज का उत्थान भारतीय नारी के उत्थान के बिना संभव नहीं है। इस विचारधारा से प्रभावित होकर उपन्यासकारों ने नारी जीवन की विविध समस्याओं को अपनी रचनाओं में प्रथम बार स्थान दिया। 'स्वतंत्र रंभा और परतंत्र लक्ष्मी', 'बिगड़े का सुधार', (लज्जाराम शर्मा), 'इन्दुमति वा वन विहंगिनी, प्रेममयी (किशोरीलाल गोस्वामी) आदि इसी प्रकार के उपन्यास हैं।

– हिन्दी उपन्यास साहित्य में सामाजिक चेतना का सर्वोच्च प्रमाण प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है। प्रेमचन्द ने उपन्यास को मानव समाज से जोड़कर उसे एक निश्चित दिशा प्रदान की और एक सुदृढ़ परम्परा की शुरुआत भी की। राष्ट्रीय स्तर पर स्वतंत्रता संग्राम और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर रूसी क्रांति ने इस काल के उपन्यासकारों को प्रभावित किया। गोदान में प्रेमचन्द ने प्रेम, विवाह, परिवार नैतिक मूल्य, नारी की स्थिति आदि पर विचार किया है। वैश्या के प्रति सहानुभूति और इस घृणित वृत्ति का उन्मूलन करने की इच्छा और प्रेरणा 'सेवासदन' में मुखरित है। विधवाओं की दयनीय स्थिति और उससे उत्पन्न समस्याओं को 'परख' (जैनेन्द्र), 'पतिता की साधन' (भगवतीप्रसाद वाजपेयी), 'प्रेमाश्रय' (प्रेमचन्द), 'संगम' (वृन्दावनलाल वर्मा) आदि उपन्यासों में चित्रित किया है। 'निर्मला'में अनमेल विवाह की समस्या पर विचार किया गया है।

– भारतीय हिन्दू समाज का मूल आधार संयुक्त परिवार था। उन्नीसवीं शदी में पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के कारण संयुक्त कुटुंब प्रणाली टूट गई। 'रंगभूमि' (प्रेमचन्द) और 'प्रेमपथ' (भगवतीप्रसाद वाजपेयी) पारिवारिक सम्बन्धों का चित्र प्रस्तुत करता है।

– स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आर्थिक जटिलताओं के कारण सामाजिक जीवन की परिकल्पना नगरों में समाप्त हो गई। मानव मूल्यों में ह्रास हुआ। 'अपने अपने अजनबी' (अज्ञेय) 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (धर्मवीर भारती), 'पथ की खोज' (देवराज) जैसे उपन्यासों में जो अकेलेपल, कुंठा, संत्रास और मानसिक यातनाओं का चित्रण मिलता है, उसका कारण यह है। देश के नवनिर्माण की चेतना 'सपना, बिक गया', (भगवती प्रसाद वाजपेयी) में है। 'आखरी दाँव' (भगवतीचरण वर्मा) में पूँजीवाद का विरोध और आर्थिक विषमता से उत्पन्न नैतिक पतन का चित्र मिलता है 'भूले बिसरे चित्र' (भगवती चरण वर्मा) मध्यमवर्ग की महत्वाकांक्षाओं का चित्र प्रस्तुत करता है। 'धर्मपुत्र' (चतुरसेन शास्त्री) साम्प्रदायकि दंगों का चित्र प्रस्तुत करता है। 'मनुष्य के रूप' (यशपाल) भी जाति वर्ग भेद भावना के ऊपर मानवीय एक्स और एकता पर बल देनेवाला उपन्यास है। आर्थिक अभाव, बेकारी, मूल्यों के विघटन आदि से त्रस्त युवा पीढ़ी 'गिरती दीवारें' (उपेन्द्रनाथ

अश्क) में उभरती हैं। 'सीधे सादे रास्ते', हजूर (रांगेय राघव), 'बीज' (अमृतराय), 'उखड़े हुए लोग' (राजेन्द्र यादव) आदि उपन्यास भी युवा पीढ़ी के मानसिक संघर्ष को प्रस्तुत करते हैं। इन उपन्यासों में वर्ग-संघर्ष का स्वर उभरा है। रांगेय राघव 'बन्दूक और बीन' में युद्ध की भीषणता देखकर शांति के लिए आह्वान करता है। समाज के प्रति अपने दायित्व के प्रति नारी की जागृति 'तट के बन्ध' (विष्णु प्रभाकर) में देखा जा सकता है। 'झूठा-सच' (यशपाल) जैसे स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन के विविध पदों को अपनी गहराई के साथ अभिव्यक्ति देनेवाले उपन्यासों की रचना भी आलोच्य काल में हुई जो स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य की उपलब्धि कही जा सकती है।

**कहानी और सामाजिक चेतना :** कहानी के प्रारंभिक रूप वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। इसके बाद उपनिषद, पुराण और ब्राह्मण ग्रन्थों में कथा-साहित्य विकसित होता गया। सन् 1900 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन से हिन्दी कहानी का युग आरंभ हुआ। 'आरंभिक काल में लिखी गयी कहानियों में कुछ शेक्सपियर के नाटकों के आधार पर कुछ संस्कृत के नाटकों के आधार पर, कुछ बंगला कहानियों को रूपांतरित करके, कुछ लोक-कथाओं से प्रेरणा लेकर और कुछ जीवन की वास्तविक घटनाओं को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत की गयी। सन् 1912-18 ई. में कहानी को साहित्य क्षेत्र में पूर्ण प्रतिष्ठा मिली। यह देश में राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल का युग था। स्वतंत्रता संग्राम का समय था। दो विश्वयुद्ध हो चुके थे। रूसी क्रांति ने भी कलाकारों और साहित्यकारों को प्रभावित किया। साम्प्रदायिकता ने जोर पकड़ा। किसान जमींदारों के शोषण का शिकार बन गया। इन परिस्थितियों का पूरा प्रभाव इस काल की कहानियों में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए 'पूस की रात', 'पछतावा', 'बेटी का धन' (प्रेमचन्द) आदि कहानियाँ ली जा सकती हैं। यशपाल की 'भस्मावृत चिनगारी', 'तर्क का तूफान' आदि भी इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। 'महफिल' (भैरव प्रसाद गुप्त) में अस्पृश्यता पर विचार व्यक्त किया है। 'यह कंचन की काया', 'पोली इमारत' जैसी कहानियों में 'उग्र' जी ने नारी समाज का चित्रण किया है। परिवर्तन और सुधार की कामना इन कहानियों में मुखरित है। 'बात बात में बात' (यशपाल), 'पाँच गधे' (रांगेय राघव), 'जीवन के पहलू', 'कस्बे का दिन', 'भोर के पहले' (अमृतराय) आदि कहानियों में आर्थिक असमानता और समाजवाद की प्रतिष्ठा का आग्रह मिलता है।

**नाटक और समाजिक चेतना**

आज के लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारतवर्ष में नाट्य-कला का जन्म और विकास हो चुका था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक जो नाटक रचना हुई, केवल मनोरंजन उसका लक्ष्य था। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों ने भारत के बड़े नगरों

में अपने मनोरंजन के लिए नाट्य शालाओं की स्थापना की। '19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नवोत्थान कालीन भावना से प्रेरित संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप और फिर से अनुकूल वातावरण पाकर हिन्दी नाट्य साहित्य का जन्म हुआ। भारतेन्दु को आधुनिक हिन्दी नाटक का जनक कहा जाता है। 'भारत दुर्दशा', 'अंधेरी नगरी' (भारतेन्दु) 'दुखिनी बाला' (राधाकृष्णदास) आदि नाटकों में भारत की दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। इनमें अंग्रेजी की प्रशंसा करने के साथ उनकी निन्दा भी की गई। बाल–विवाह, छूत–अछूत, अन्धविश्वास और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध इन नाटककारों ने आवाज उठाई।

– उन्नीसवीं शदी के उत्तरार्द्ध में नाट्य साहित्य का प्रधान उद्देश्य धार्मिक और सामाजिक सुधार एवं देश प्रेम था। बीसवीं शदी के प्रारंभ में रामायण, महाभारत और पुराण नाटकों की मूल प्रेरणा रहे। इस समय के नाटकों में पराधीनता जन्य व्यथा गहरी थी। 'चन्द्रगुप्त', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु' (प्रसाद) आदि नाटकों में वर्तमान की क्षतिपूर्ति अपने गौरवमय अतीत में करने का प्रयत्न किया गया है।

– अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों में फँसकर पतित हो गये हिन्दू समाज का चित्र और उसके उत्थान की भावना 'आचार विडम्बना' (बालकृष्ण भट्ट), 'प्रेमजोगिनी' (भारतेन्दु) आदि नाटकों का लक्ष्य था। हिन्दू–मुस्लिम वैमनस्य 'रामलीला विजय' (बलदेव प्रसाद) का विषय है। पाश्चात्य सभ्यता का रंग 'नयी रोशनी का विष' (बालकृष्ण भट्ट) में देखा जा सकता है। 'एक–एक के तीन–तीन' (देवकीनन्दन त्रिपाठी) किसान की शोचनीय अवस्था प्रस्तुत करता है। 'छठा बेटा' (अश्क), 'नींव के दरारें' (कृष्ण किशोर श्रीवास्तव) 'टूटते परिवेश' (विष्णु प्रभाकर)आदि नाटकों में पारिवारिक सम्बन्धों में विघटन की समस्या मुखरित है। 'आधी रात' (लक्ष्मीनारायण मिश्र), 'कमला' (उदयशंकर भट्ट) आदि नाटक स्त्री को अपने अधिकारों के प्रति सचेत बनाने वाले हैं। 'चिराग की लौ' में रेवतीसरन वर्मा स्त्री को आर्थिक रूप में आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देता है। 'व्यक्तिगत' (लक्ष्मीनारायण लाल) 'राक्षस का मंदिर' (लक्ष्मीनारायण लाल) 'त्रिशकु' (ब्रजमोहन सहाय) जैसे नाटक राजनीति की आलोचना करते हैं। 'अंजो दीदी' (अश्क) आधे–अधूरे (मोहन राकेश) आदि नाटक समाज में व्याप्त भष्टाचार का पर्दाफाश करते हैं। 'युगे–युगे क्रान्ति' में विष्णु प्रभाकर और 'बिना दीवारों का घर' में मन्नू भण्डारी और 'एक और द्रोणाचार्य' में शंकर शेष ने विधवा समस्या पर विचार किया है।[40]

## संदर्भ सूची


1. महादेवी वर्मा के काव्य में समाज एवं संस्कृति, कीर्तिकुमार एस. जादव, चिन्तन प्रकाशन, हंसपुरम, कानपुर, पृष्ठ 137
2. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 10 से 12
3. हिन्दी नई कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ महेश चन्द्र 'दिवाकर', सुमन प्रकाशन, पृष्ठ 1
4. हिन्दी नई कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ. महेश चन्द्र 'दिवाकर', सुमन प्रकाशन, पृष्ठ 2
5. हिन्दी नई कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ. महेश चन्द्र 'दिवाकर', सुमन प्रकाशन, पृष्ठ 3
6. हिन्दी नई कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ. महेश चन्द्र 'दिवाकर', सुमन प्रकाशन, पृष्ठ 4
7. हिन्दी नई कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ. महेश चन्द्र 'दिवाकर', सुमन प्रकाशन, पृष्ठ 5
8. संकल्पित महादेवी प्रथम संस्करण ज्येष्ठ दशहरा, सं. 2025 सेतु प्रकाशन, 84 तलैया, झाँसी, म. प्र , पृष्ठ 109
9. सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज और संस्कृति (सूर, तुलसी एवं दादू के विशेष संदर्भ में) डॉ. सावित्री चन्द्र 'शोभा' पृष्ठ 1
10. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 12 से 14
11. प्रेमचन्द भारतीय साहित्य – संदर्भ, संपादक डॉ. निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 69
12. जैनेन्द्र का जीवन–दर्शन, डॉ. कुसुम मक्कड, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली–110006 पृष्ठ 226
13. भारतीय मध्यवर्ग और सामाजिक उपन्यास, डॉ. पी.एस. थॉमस, प्रकाशक : जवाहर पुस्तकालय, मथुरा–281001, पृष्ठ 24
14 गोपाल कृष्ण शर्मा मार्क्सवादी दर्शन का सैद्धातिक विवेचन, प्रकाशक : जवाहर पुस्तकालय, पृष्ठ 19 से 23
15. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन (1950–1970) , प्रकाशक : डॉ. भैरूलाल गर्ग, चित्रलेखा प्रकाशन, 147 सोहबतिया बाग, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, पृष्ठ 43
16. समकालीन हिन्दी कहानी में समाज संरचना, डॉ. मोनिका हरित, प्रकाशक : श्याम प्रकाशन, जयपुर, राजस्थान, पृष्ठ 50 से 51
17 वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में नैतिकता, डॉ. कमलेश माथुर, प्रकाशक – मलिक एण्ड कम्पनी, चौडा रास्ता, जयपुर, राजस्थान, पृष्ठ 38 से 41
18. समकालीन हिन्दी कहानी में समाज संरचना, मोनिका हरित, प्रकाशक : श्याम प्रकाशन, जयपुर, राजस्थान, पृष्ठ 16
19. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 17
20. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ, डॉ. विमल शंकर नागर, प्रकाशन प्रीत विहार, चन्द्रनगर, मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश, पृष्ठ 13
21. सत्तरोत्तर हिन्दी उपन्यासों के नायक संघर्ष – चेतना के परिप्रेक्ष्य में, डॉ. भाऊ साहब नवनाथ नवले, अमन प्रकाशन, पृष्ठ 53 से 58
22. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, डॉ अमरसिंह जगराम लोधा, प्रकाशक : अमर प्रकाशन, 12 ए, माधव बाग सोसायटी, गीता मंदिर, अहमदाबाद, गुजरात, पृष्ठ 1 से 3
23. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों के नारी पात्रों में युग–चेतना, डॉ. विजय लक्ष्मी, प्रकाशक : लेखक मंच, 79 बी, पाकेट–3, मयुर विहार, दिल्ली – 110009, पृष्ठ 19
24. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों के नारी पात्रों में युग–चेतना, डॉ. विजय लक्ष्मी, प्रकाशक : लेखक मंच, 79 बी, पाकेट–3, मयुर विहार, दिल्ली – 110009, पृष्ठ 18
25. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 19
26. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 29 से 31
27. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 54
28. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली, पृष्ठ 27 से 29
29. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 51 से 54
30. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 31
31. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 55 से 57
32 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 32
33 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 57
34. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 18
35. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली, पृष्ठ 20 से 22
36. महादेवी साहित्य एक नया दृष्टिकोण, पदमसिंह चौधरी, अपोलो प्रकाशन, जयपुर – 3, राजस्थान, पृष्ठ 33
37. साहित्य के नये संदर्भ, डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश', प्रभात प्रकाशन, चावडी बाजार, दिल्ली – 110006 पृष्ठ 68 से 69
38. साहित्य के नए संदर्भ : डॉ. रामगोपाल 'दिनेश' प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली, पृष्ठ 69
39. साहित्य के नए संदर्भ : डॉ रामगोपाल 'दिनेश' प्रभात प्रकाशन, चावडी बाजार, दिल्ली, पृष्ठ 71
40. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सामाजिक चेतना, डॉ. सोफिया मैथ्यू, सूर्यभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 24